मानवतरंगिणी—२

ऐतिहासिक कहानियाँ

संघर्ष

भगवतशरण उपाध्याय, एम्० ए०

किताब महल : इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९४१
द्वितीय संस्करण, १९४८

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—बदलराम जायसवाल, राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज, इलाहाबाद।

गतिमती मानवता का इतिहास
उद्भ्रान्त विकल मानव को—

प्रथम संस्करण का वक्तव्य

प्रस्तुत संग्रह मानवतरंगिणी की द्वितीय तरङ्ग है। धारा-वाहिक रूप से ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास का ही इसमें भी ध्यान रखा गया है। महाभारत आदि ग्रंथों के आधार की कहानियों के संग्रह अलग प्रस्तुत किए जाएँगे। उनके बीच में आ जाने से ऐतिहासिक शृंखला टूट जाएगी। प्रस्तुत संग्रह का समय-प्रसार सातवीं शती ई० पू० से तीसरी शती ई० पू० तक है।

प्रोफ़ेसर पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, एम० ए०, साहित्यरत्न ने इसके प्रूफ आदि देखे हैं। मैं उनका ऋणी हूँ। प्रकाशकों ने जो तत्परता दिखा कर मेरा उत्साह-वर्धन किया है उसके लिए मैं उनका भी ऋणी हूँ। रैपर के ऊपर का चित्र (विलासी) नामक कहानी से सम्बन्ध रखता है। यह दूसरी शती ई० पू० में मिट्टी के ठीकरे पर उत्कीर्ण उदयन द्वारा वासवदत्ताहरण कथा का फोटो प्रिंट है। फोटो भारत-कला-भवन के अध्यक्ष श्री राय कृष्णदास जी के सौजन्य से प्राप्त हुआ। मैं उनका आभारी हूँ।

भगवतशरण उपाध्याय

सूची

संघर्ष

[संघर्ष सनातन, सार्वदेशिक है। भारतीय संस्कृति की यह शिलाभित्ति है। इसी से इतिहास में प्रगति हुई। सत्य की खोज में संघर्ष इतने नहीं हुए जितने रोटी की खोज में। सत्य की सारता और असारता किसकी जानी है? पर प्रयास-प्रयत्न सबने किए हैं—ईश्वरवादी ऋषि ने भी, प्रकृतिवादी लोकायत ने भी। यह विचारों का द्वन्द्व, संघर्ष, अतीत में चला है, वर्तमान में चल रहा है, और भविष्य में चलेगा। वाम-मार्ग का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना दक्षिण अथवा श्रुति-मार्ग का। दक्षिण अथवा श्रुति-मार्ग ने अपनी संज्ञा वाम-मार्ग की अनबन से प्राप्त की। इस कहानी में इसी विचार-संघर्ष की कथा है। इसका समय उपनिषत्-काल के आरम्भ से प्राग्बौद्ध-काल तक है।]

२६—८—१६४०] [प्रात: ४—१०

१

याग-होम के उपरान्त ऋषि ने वेद-पाठ न किया। कुलपति के समक्ष कितने ही ब्रह्मचारी ब्रह्मचरण के निमित्त समित्पाणि होकर आए और विदग्ध हुए, कितने ही उपनीत शिष्यों ने विद्यावधि के पश्चात् आज समावर्तन प्राप्त किया—संसार में लौटे। कुछ को जगत् के कल्याणार्थ ऋषि ने पर्यटन और उपदेश के निमित्त दीक्षित कर भेजा, कुछ को तीनों आश्रमों के हित-साधक गार्हस्थ्य का उपदेश किया। ब्रह्मचारी 'सत्यं वद, धर्मं चर' की दीक्षा ले संसार-क्षेत्र में उतरे। नए आए, पुराने गए। गुरुकुल की परंपरा में भेद न पड़ा।

× × ×

अपराह्न में गुरुकुल का उपाध्याय लौटा—उद्भ्रान्त, उद्विग्न।

ऋषि ने पूछा—उद्वेग कैसा, उपाध्याय?

उपाध्याय कान्तिहीन हो गया था, उसकी मुखश्री अप्रतिभ हो गई थी।

बोला—उद्वेग कैसा? मार्तंड चमका, उसने मुझे झुलस दिया।

"मार्तंड-लोकायत?" ऋषि ने पूछा। उसकी भौंहों में बल पड़ गए।

"हाँ, मार्तंड-लोकायत, जिसकी शब्द-शक्ति जागर्ति में अन्तर को आन्दोलित करती है, श्रद्धा-विश्वास के आधार को हिला देती है और सुषुप्ति में प्रेत की छाया की भाँति अनुसरण करती है।" उपाध्याय ने उत्तर दिया।

उसका मस्तक अब भी झुका था। लोकायत ने नगर के प्रांगण में जनसमूह के समक्ष उपाध्याय के तर्क और ज्ञान को झकझोर दिया था। देवता की कितनी ही मनौतियाँ भी उसकी रक्षा न कर सकी थीं। और वह लौटा था ऋषि के समीप—कातर, क्रुद्ध, संतप्त।

"भ्रान्ति निर्मूलक है, उपाध्याय, चित्त स्थिर करो।" ऋषि बोला—संयत ऋषि, उठती शंकाओं का सबल निरोध करता।

"भ्रान्ति निर्मूलक नहीं है, महर्षि। आप द्रष्टा हैं—'साक्षात्कृतधर्माणः' ऋषियों में आपकी गणना है। ब्रह्म और सत्य आपको स्पष्ट उपलब्ध हैं, परन्तु मैं हूँ मानव, उपाध्याय—पार्थिव पितृ-कामना से समुद्‌भूत शंकाजर्जर क्षुद्र प्राणी। शंकाएँ ब्रह्मचारियों के निश्छल प्रश्नों से प्रादुर्भूत होती हैं और मार्तंडलोकायत की प्रखर प्रमाण-किरणों से उद्भासित हो मूर्तिमती हो उठती हैं। भला चित्त स्थिर कैसे करूँ?"

'बस वही, वही—ब्रह्मचारियों के प्रश्नों से प्रसूत शंकाएँ दुर्बल हृदय की उर्वरा भूमि में पनपती हैं। हृदय में शक्ति लाओ।" ऋषि ने जैसे उसे पकड़ा।

"और जब शंकाएँ ब्रह्मचारियों की अनुपस्थिति में अकारण उमड़-घुमड़ उठती हैं—तब?" सत्यार्थी उपाध्याय गहरे जल में स्थल को छूता हुआ-सा, थाह लेता हुआ-सा बोला।

प्रश्न ऋषि का अनजाना न था। वह उसका नित्य का अतिथि

था। नित्य वह जिस प्रकार अपनी शंका का समाधान करता था, उपाध्याय के प्रति भी बोला।

"तुम ज्ञान की परिधि से बाहर हो, उपाध्याय। अज्ञान के राज्य में मोहान्धकार का विस्तार होता है और उसकी श्याम-रजनी में शंकाओं का प्रजनन। दुर्बल मानव जब नत-मस्तक हो शंकाओं के प्रबल प्रभंजन से आक्रान्त हो व्यथित हो उठता है तब ये ही शंकाएं उसके विनाश के बीज बोती हैं और उस अभागे संशयात्मा का निधन हो जाता है। उपाध्याय, सावधान हो, कालरात्रि का उदर बड़ा है—उससे कवलित न हो।"

"महर्षि, काव्य का जाल प्राचीन है, अति प्राचीन। इसका वितन्वन प्राथमिक दर्शकों द्वारा ही प्रारम्भ हुआ था।" उपाध्याय ने दबे स्वर में कहा।

उसके शब्द उसके हृदय में ही क्रान्ति का वातावरण उपस्थित कर रहे थे। फिर भी रह रह कर उसे बोध हो रहा था कि मैं मर्यादा के प्रति कुछ उच्छृङ्खल हो रहा हूँ।

धीरे धीरे उपाध्याय के चतुर्दिक ब्रह्मचारियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। मार्त्तंड-लोकायत के समक्ष नगर में उन्होंने अपने उपाध्याय की पराजय स्वयं देखी थी। अब वे उत्कंठित हो कुलपति की ओर देखने लगे।

कुलपति बोला—"उपाध्याय, चित्त को स्थिर कर वेद-ब्रह्म की उपासना में लगाओ। ईश्वर अपने उपासकों की रक्षा करेगा। समाधि में बाह्य चेतना को अन्तर्मुखी कर स्थितप्रज्ञ हो। कल्याण होगा।" ऋषि के शब्द शक्तिरहित थे, उसका हृदय आकुल था, असंयत।

वह पर्णकुटी में लौट गया।

उपाध्याय भी गुनता हुआ लौटा—सारा शब्दाडम्बर है, वाग्जाल, अनृत !

आज मार्तंड और ऋषि का वाद-विवाद है। उनके विचारों की सत्यता का निर्णय तर्क से जनता के सामने होगा। ऋषि के ब्रह्मचारियों ने कुलपति की ओर से उनके अनजाने लोकायत को चुनौती दे दी थी। कुलपति, गुरु और उपाध्याय को देवतुल्य माननेवाले शिष्यों को यह कैसे सह्य हो सकता था कि लोकायत खुले नगर-प्रांगण में उनके आचार्य को अप्रतिभ कर दे।

कई दिनों से इस दिन की प्रतीक्षा हो रही थी। सारा नगर, समस्त प्रदेश इस शास्त्रार्थ के निमित्त उत्सुक था। कई दिनों पूर्व ही नगर में बाहर के जनपदों से आ आकर लोग भर रहे थे। सभी शिष्य और आचार्य, ऋत्विज और श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी। आर्यों की सारी विचारधाराएँ मत-मतान्तर आज नगर में आ पहुँचे थे, भर गए थे। पुरुष-नारी, युवा-वृद्ध कुतूहलपूर्वक आज की चर्चा के लिए लौ लगाए हुए थे। गुरुकुलों में कितनी बार सम्भावित शास्त्रार्थ के विषय पर उमंगभरी विवेचना हो चुकी थी। कितने ही शिष्य, कितने ही आचार्य, ऋषि और मार्तंड के वाद-विवाद का क्रम निश्चय कर उस पर अपने निर्णय दे चुके थे।

नगर के समीपस्थ तपोवन में भी कुछ कम संघर्ष न था। आचार्य तो किसी प्रकार संयत हो अपने भीतर उठनेवाले भावों का संयमन करते, परन्तु ब्रह्मचारियों की वाग्धारा, सरिता में स्नान करते समय, खेल और विश्राम के समय, अध्ययन-अधि-शीलन के समय लताओं के कुंजों में, गुल्मों के झुरमुटों में सर्वत्र बहा करती।

उपाध्याय के आचरण में यकायक गम्भीरता आ गई थी।

उसकी चुप्पी में प्रभंजन का वेग निहित था। सत्य की उपलब्धि की सम्भावना से उसके भीतर एक प्रकार की गुदगुदी-सी उठती और वह रह रहकर मुसकरा उठता। परन्तु उसकी मुसकराहट में कभी कभी दबी वेदना का अनुभव होता और सहसा उसकी मुसकान उस दबी वेदना की कसक में घुट जाती। सत्य की उपलब्धि के साथ ही जो एक छिपे भय का जब-तब आभास होता वह सर्वथा कल्पना ही नहीं था। वह सोचता—यदि मार्तंड का तर्क सत्य है तो इस आर्य-परम्परा का क्या होगा? ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा, ब्राह्मण-आरण्यकों के उपदेष्टा, उपनिषदों के ब्रह्मज्ञानी क्या अनृत के उपासक थे? फिर वह कहता—सत्य की प्रतिष्ठा होनी उचित है, वह ऋषियों के पक्ष में हो अथवा विपक्ष में। परन्तु वैदिक साहित्य का प्रसार कल्पना-मात्र, अतीत के महापुरुषों की विदग्धता काल का प्रहसनमात्र है, यह विचारते उसे कष्ट हुआ। वह जानता था ऋषि के पास उस की शंका का समाधान नहीं है, यदि मार्तंड के पास हुआ तो ऋषि की अवमानना होगी और ऋषि के साथ ही सारे आर्य-साहित्य की भी।

"पर हो, उससे मुझे क्या? मेरे अच्छा-बुरा लगने से तो वस्तुओं की नित्यता और सत्य की सारता या निस्सारता में किसी प्रकार का अन्तर पड़ नहीं सकता। फिर जिस सत्य की घोषणा करते हुए-से ब्रह्म-ज्ञान के साहित्यरूप ये स्तम्भ यदि अस्थिर आधार पर खड़े सिद्ध हुए तो असत्य को अपनाने के लिए ही मेरी अभिलाषा क्यों हो?" उपाध्याय ने धीरे-धीरे अपने आपसे कहा। उसकी चेष्टा विविध प्रकार की भावनाओं से, उनके घात-प्रतिघात से इस प्रकार विकृत होती रहती।

उपाध्याय धीरे-धीरे उत्सुक, अन्यमनस्क, आकुल हो सभा-

भूमि की ओर चल पड़ा, अकेला, मुग्ध। उसके अन्तेवासी और आश्रम के दूसरे ब्रह्मचारी बहुत पूर्व ही चल पड़े थे।

× × ×

नगर के अन्य नागरिक भी वेग से सभास्थल की ओर बढ़े जा रहे थे। कुछ के लिये तो यह आयोजन एक कुतूहलमात्र था, कुछ में सत्य की खोज की लगन थी, कुछ प्राचीन परम्परा की रक्षा के अर्थ मरे जाते थे। अधिकांश इस आशा से दौड़े जा रहे थे कि आज लोकायत की दृप्त 'प्रतिज्ञा' निस्सार सिद्ध होगी और वैदिक सूर्य की प्रखर किरणों से अज्ञानान्धकार छँट जाएगा। वेदों की गरिमा लोग नए सिरे से समझेंगे और वाममार्ग विध्वस्त होगा।

नगर में होम-याग आज कुछ शिथिल पड़ गए। कुछ ने उन्हें छोड़ते हुए कहा—आज जब इनकी सत्ता का पुनरुत्थापन होगा कल इनको और अधिक लौ से अपनाएँगे।

× × × ×

तपोवन में उपाध्याय ने होम अनिश्चित मन से किया था। आचार्यों के साथ ऋषि जब भीतर अशान्ति की आँधी दबाए होमकुंड के समीप बैठा, उसके मुख पर उद्वेग के चिह्न स्पष्ट झलक रहे थे। भीतर उठती भावनाओं की दौड़ मानों बाहर की आकार-चेष्टाओं पर अपनी छाया डाल रही थी। मन को साधे ऋषि ने इन्द्र से शक्ति और अग्नि से ज्ञान-प्रतिभा की भिक्षा माँगी उधर मार्तंड इन्द्रावरुण, त्रिधा अग्नि आदि पर ही आघात करने पर उतारू था। इतर आचार्य ऋषि के स्वर में स्वर मिला रहे थे—ॐ अयन्त इध्म आत्मा जातवेदसे तेध्यस्व वर्द्धस्य चेद्ध वर्धय। चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा—परंतु

उनका ध्यान जातवेदस् से हटकर मार्तंड की ओर लगा था, तपोवन से दूर नगर-प्रांगण में।

× × × ×

नगर के ब्राह्मण-गृहस्थों की वास-भूमि में सबसे अधिक व्यग्रता थी। ब्रह्म और वेदों का निरादर करना उनकी संस्कृति पर आघात करना था। ब्राह्मण, सत्य ही बड़े व्यग्र हो उठे थे। बड़ी-बड़ी संख्याओं में उनके दल के दल सभास्थल की ओर चले जा रहे थे। केवल हँसोड़ क्षुरप्र अपनी धुन में मग्न था।

क्षुरप्र का प्रकृत नाम तो अगस्त्य था परन्तु उसके व्यंग्य बाणों की विशेषता से उसका नाम क्षुरप्र पड़ गया था। कृत्रिमता का तो वह शत्रु था, समाज के अदूरदर्शी नेताओं का वैरी। उदारता उसमें ऐसी थी कि विपरीत से विपरीत बात में भी यदि सार्थकता होती तो वह उसे झट अपना लेता। कुरीतियों का वह बड़े पौरुष से विरोध करता। उसमें क्षमता थी और उसी बल पर वह समाज के शक्तिशाली नेताओं तक को अनौचित्य पर ललकारता, चुनौती देता। परन्तु उसके विरोध में हास्य था, आघात में प्रहसन। वह अद्वितीय कुशाग्रबुद्धि था। उसकी चोट में व्यंग्य की प्रचुरता रहती परन्तु उसके होंठों पर मुस्कान खेला करती, जिससे उसका मुख सदा प्रफुल्ल बना रहता।

क्षुरप्र ने समवयस्क यज्ञसेन को गोवत्स से बलपूर्वक पृथक करते हुए कहा—यज्ञसेन, कुछ उसका भी भाग होता है, रहने दे।

यज्ञसेन झल्ला उठा। गोवत्स छूटकर माँ के थन से फिर जा लगा था। यज्ञसेन क्षुरप्र को झटकारकर गोवत्स के पीछे दौड़ा। गोवत्स भागा। जब तक उसके पीछे भागता यज्ञसेन माधवी-निकुंज की आड़ में हुआ, क्षुरप्र ने दूसरी गाय का वत्स निरर्गल कर दिया। वह भी माँ के स्तनों से आ लगा।

क्षुरप्र चिल्ला उठा—यज्ञसेन, यज्ञसेन, विडाल ने दूध में मुँह लगा दिया। दौड़ो, दौड़ो।

'बिडाल' दूसरी गाय का बछड़ा था जिसे क्षुरप्र ने छोड़ दिया था। यज्ञसेन ने प्यार से बछड़े का नाम 'विडाल' रखा था। यज्ञसेन ने समझा कि बिल्ले ने दूध के मटके में मुँह डाल दिया। हाथ में आया बछड़ा छूट गया और वह उतावली में पीछे दौड़ा। परन्तु मटके के समीप मार्जार को न देख उसे हाथ आए वत्स के छूटने का स्मरण आया और उसने सकोप क्षुरप्र की ओर देखा।

क्षुरप्र ने गाय की ओर संकेत कर कहा—बुद्धिभ्रष्ट ब्राह्मण, अरे उधर देख उधर—कृष्णा गौ की ओर। तेरा प्रिय 'बिडाल' तुझसे भाई का प्रतिशोध ले रहा है।

यज्ञसेन ने अकचकाकर कृष्णा की ओर देखा और पलक मारते वह उसकी ओर दौड़ा। कृष्णा हाल की ब्याई थी। यज्ञ-सेन को अपनी ओर बढ़ते देख वह उस पर झपटी। यज्ञसेन पीछे की ओर भागा पर उसका पाँव गोबर पर पड़ा और वह तुरन्त पृथ्वी चूमने लगा।

"हाय! हाय!" करता क्षुरप्र हँसी रोके यज्ञसेन की सहायता को बढ़ा।

क्रोध से तमतमाया यज्ञसेन चिल्ला उठा—रहने दे, रहने दे, दुष्ट क्षुरप्र। तू वंचक है, क्रूरकर्मा।

यज्ञसेन गोबर से सन गया था। क्रोध के मारे वह और फैलकर गोबर पर लेट गया।

"अरे मेरे प्रिय यज्ञसेन, उठ उठ। तुझे विडाल की सौगन्ध, कृष्णा की सौगन्ध।" क्षुरप्र ने यज्ञसेन की भुजा पकड़ ली।

यज्ञसेन ने भुजा छुड़ाते हुए कहा—चल, हट, तू नारकी। बिडाल और कृष्णा क्या मेरे सगे-सम्बन्धी हैं?

इसी समय सभास्थल की ओर जाते हुए कितने ही ब्राह्मण उच्चस्वर से आलाप करते कुछ दूर से निकले। क्षुरप्र ने उन्हें पुकारा। उनका स्वर सुनते ही यज्ञसेन विद्युत् की भाँति उठकर फिर नीचे झुका जैसे गोबर उठा रहा हो। क्षुरप्र के पेट में हँसते हँसते बल पड़ गए थे। उत्तरीय का कोना मुँह में ठूँसे वह हँसी रोकने का प्रयत्न कर रहा था। एक हाथ आगे की ओर सतर्क था—कहीं यज्ञसेन गोबर से आक्रमण न कर बैठे। लोगों का स्वर सुन यज्ञसेन यकायक उठा और पलमात्र में घर के भीतर जा पहुँचा।

भीतर ही से चिल्लाकर वह बोला—अरे दानव क्षुरप्र, तनिक वत्स को झपटकर पकड़ ले नहीं सन्ध्या को निराहार ही रह जाना पड़ेगा। खीर तो गई ही, सायंतन का होम भी जाता रहेगा। क्षुरप्र तुझे वेद की सौगन्ध, ब्रह्म की सौगन्ध!

"मार्तंड के प्रकाश से लौटने पर तुझे होम-याग की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, यज्ञसेन, और न मुझे वेद, ब्रह्म की सौगन्ध का भय ही रह जाएगा।" नेत्रों में जल भरे क्षुरप्र ने हँसी रोकते हुए कहा।

"अरे नरपिशाच, जा तू फिर अपने सगोत्र मार्तंड के समीप। मैं वाममार्गियों की छाया भी नहीं छूता। अरे अग्निदास! अरे घोटक!" यज्ञसेन ने क्षुरप्र को धमकाते हुए दासों को पुकारा।

धमकी ठीक बैठी। यज्ञसेन और दूसरे अनेक सहचर क्षुरप्र के आनन्द के साधन थे। उन्हीं पर वह अपनी वाक्पटुता की धार पैनी किया करता था। उसके बिना मार्ग कैसे कटता? क्षुरप्र सहम गया। हँसी का स्रोत धीमा पड़ चला।

इधर दासों ने गोवत्सों को बाँध लिया था। लोग भी यज्ञसेन के द्वार की ओर मुड़ चुके थे।

वह धीरे से बोला—भाई यज्ञसेन, झट वस्त्र बदल ले, लोग आ पहुँचे। वत्सों को दासों ने बाँध लिया।

"क्या सच ? पर तू मिथ्यावादी है, वंचक, वेद-निन्दक, लोकायतों का नेता..." यज्ञसेन ने आगन्तुकों की पदध्वनि सुन अपना स्वर धीमा कर लिया।

क्षुरप्र ने आगन्तुकों से साग्रह कहा—आप लोग तनिक ठहरें। यज्ञसेन धेनुसेवा कर रहा था।

वस्त्र के अर्थ यज्ञसेन कक्ष में इधर से उधर, पर्यंक के ऊपर-नीचे चढ़-उतर रहा था। क्षुरप्र की बात सुनकर उसने अधर काटा—"कहीं वह गिरनेवाली बात न कह दे"—उसने शंका की।

क्षुरप्र ने कहा—ब्राह्मण गो......

यज्ञसेन ने विचारा—अरे कहीं गोबर की बात न कह दे। वह दम साधे भीतर किवाड़ से लगा खड़ा था। क्षुरप्र के मुख से 'गो...' निकलते न निकलते उसने खाँसकर संकेत किया—मैं सुन रहा हूँ।

क्षुरप्र हँस पड़ा।

"ब्राह्मण गोसेवक है।" उसने बात पूरी की।

यज्ञसेन की जान में जान आई। वस्त्रों के लिए फिर दौड़-धूप मच गई—कक्ष में चतुर्दिक, पर्यंक के ऊपर-नीचे।

आगन्तुकों ने जो क्षुरप की मुद्रा देखी तो वे भी हँस पड़े। यज्ञसेन फिर किवाड़ से कान लगाकर खड़ा हो गया। लोगों ने विचारा क्षुरप्र के हँसने का कुछ अर्थ है। पूछा—क्षुरप्र, क्या है ?

यज्ञसेन ने हृदय पर हाथ रखकर फिर खाँसा। क्षुरप्र फिर हँस पड़ा। यज्ञसेन ने मुट्ठियाँ कस लीं, दाढ़ों को पीस लिया, नेत्र मींच लिए।

क्षुरप्र ने कहा—यज्ञसेन वस्त्र बदल रहा है।

"भूमिका बाँधी इसने"—यज्ञसेन ने कंठ के भीतर ही भीतर कहा। फिर भुजाएँ झकझोर दीं। दाहिनी भुजा लटकती वीणा के तारों में लगी। स्वर हुआ झन-न्-न्...।

"शीघ्रता करो, यज्ञसेन पूर्वाह्न हो चला, लोग प्रतीक्षा में खड़े हैं। यह क्या मूर्छना कर रहे हो? वस्त्र पहिनो।" क्षुरप्र ने स्मरण दिलाया।

"यज्ञसेन! यज्ञसेन!" बाहर से कई जनों ने पुकारा

कक्ष के भीतर फिर दौड़-धूप मची। शीघ्रता में यज्ञसेन ने जो पर्यंक की पट्टी पर दक्षिण पाद रखा, दूसरी पट्टी उठ गई। यज्ञसेन धड़ाम से नीचे आ रहा। नीचे से उसने अधोवस्त्र गृह के आँगन में सूखता देखा। दौड़कर उसने उसे खींच लिया। उत्तरीय भी अधोवस्त्र में लिपटकर हाथ में आ गया। अब उत्तरीय के अर्थ हाय हाय मची। इधर देखा, उधर देखा, खूँटी पर, गवाक्ष में। दीवार पर लटकती पोटली हड़बड़ी में फाड़ डाली।

इतने में बाहर से कई कंठों से 'यज्ञसेन! यज्ञसेन!' की पुनः चिल्लाहट हुई। पोटली को फेंक जब यज्ञसेन ने अधोवस्त्र उठाया तब उत्तरीय का छोर दिखाई पड़ा। उसने अपना सिर पीट लिया। फिर 'आया, आया' कहता, वस्त्र धारण कर वह वेग से बाहर आया। दाँत खुले थे, नेत्र भरे कपोलों में अधमिचे।

हँसते हुए, तत्परता से लोग सभास्थल की ओर बढ़े।

मार्ग में अग्निमित्र हवन-कुंड में सर्वाहुति डाल रहा था। वह भी क्षुरप्र का बालमित्र, सहपाठी था।

क्षुरप्र ने कहा—अग्निमित्र, रख दे स्रुवा। सभा-स्थल से लौटने पर फिर इसकी आवश्यकता न होगी। इसे भी अग्निदेव की भेंट कर दे।

सब हँस पड़े। अग्निमित्र ने कानों पर हाथ रख लिए।

सुविस्तृत पट-मंडप के नीचे जन-समुदाय बैठा था। वितान के चारों ओर आम्र-पल्लवों और कमलों की झालर लटक रही थी। महर्षि और वामाचार्य के विमान कुछ ऊँचे बने थे। उनके पृष्ठ कदली-स्तम्भों और विविध कुसुमों से सुसज्जित थे। महर्षि की श्वेत जटाएँ मस्तक पर बँधी थीं। सुदीर्घ, शुभ्र वर्ण पर शुक्ल वसन छज रहा था, भुजाओं, वक्ष और ललाट पर चन्दन चमक रहा था। ज्ञानविदग्ध गम्भीर मुखमंडल शान्तिपूर्वक कभी इधर कभी उधर रह रह कर फिर जाता था। अनेक मस्तक दृष्टि मिलते ही श्रद्धा से झुक कर अभिवादन करते और ऋषि का आशीर्वादसूचक कर धीरे धीरे उठते-गिरते। विमान पर पीछे आर्यधर्म के अनेक आचार्य और गुरुकुल के उपाध्याय बैठे थे। उनके पीछे शिष्यवर्ग था। विमानों के मध्य तथा चतुर्दिक गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आसीन थे।

महर्षि के सम्मुख कुछ ही दूरी पर लोकायत का विमान था जिसपर प्रसन्नवदन वामाचार्य विराजमान था। सुन्दर प्रौढ़-लोकायत का सौन्दर्य दर्शनीय था। सुपुष्ट तन जहाँ तहाँ चन्दन-चर्चित था। नीचे की धोती अंगुष्ठ तक पदों को ढके हुए थी। ऊपर स्कन्धदेश से होता हुआ उत्तरीय दोनों ओर नीचे भूमि तक लटक रहा था। एक स्थूल पुष्पहार यज्ञोपवीतवर्जित वक्ष को ढक रहा था। उसके कर सामने पड़े पुष्पस्तबकों से खेल रहे थे। स्मित मुद्रा दर्शकों के हृदय में आशा का संचार करती थी। उसका आनन्दसूचक मुख आकर्षण का केन्द्र था। निस्संकोच दृष्टि आत्मविश्वास की परिचायिका थी। कभी किंचित संकुचित कभी विस्फारित दृष्टि से वह जनता की ओर देखता फिर थोड़ा मुसकरा उठता। उसके आनन्दसूचक नेत्र मेधा की प्रखरता

से चमक रहे थे। उसकी दया में तिरस्कार का आभास होता। सुन्दर सुडौल मस्तक पर घने श्याम केश सामने से पीछे की ओर फिरे हुए थे जिससे ललाट की चौड़ाई और बढ़ी हुई सी दिखाई पड़ती थी। केशों की कुंचित अवली कानों से होती हुई पीछे ग्रीवा पर फैली वायु से खेल रही थी। रह रह कर लोकायत दोनों कर केशों पर सामने से पीछे तक फेर देता और तब कन्दुक-से लटकते स्वर्ण-कुण्डल उनके भीतर से निकल कपोलों पर चमक उठते। जन-समुदाय की दृष्टि वामाचार्य पर टिकी थी, परन्तु उसमें अधिकतर उसके विरुद्ध कामना थी। लोकायत निश्चिन्त था।

मध्यस्थ-विमान पर अनेक निर्णायक बैठे थे। उनका प्रधान वयोवृद्ध यास्क था।

मध्यस्थ-विमान के समीप बैठे क्षुरप्र ने यज्ञसेन को खोद कर कहा—यज्ञसेन, आज बड़ा संकट है।

फिर अग्निमित्र की ओर संकेत कर उसने पूछा—क्या अग्नि-मित्र का गायत्री-मंत्र आज कुलपति का कवच बनेगा ?

यज्ञसेन ने अग्निमित्र की ओर देखा फिर क्षुरप्र की ओर देख कर मुसकरा दिया। अग्निमित्र के होंठ हिल रहे थे। उसने क्षुरप्र की ओर अपनी कठोर दृष्टि फेरी।

फिर पूछा—क्या ?

क्षुरप्र ने उत्तर में कुछ गम्भीर हो पूछा—क्या सपादलक्ष हो गये ?

"क्या सपादलक्ष ?" अग्निमित्र ने फिर पूछा, चोर जैसे सेंध पर पकड़ गया हो।

"अरे वही जो बुद्बुद् कर रहे हो।" क्षुरप्र दूसरी ओर मुँह

फेर कुछ अन्यमनस्क-सा बोला। समीप बैठे लोगों में से कुछ मुसकरा पड़े।

मुख कुछ विकृत कर अग्निमित्र ने कहा—'चुप'—और फिर बुद्‌बुद् करने लगा।

यज्ञसेन और क्षुरप्र हँस पड़े।

× × ×

मध्यस्थ ने संकेत किया। लोकायत ने ऋषि के विमान पर पुष्प फेंके, ऋषि ने लोकायत पर।

ऋषि ने स्वर से पढ़ा—असतो मा सद्‌गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

मध्यस्थ-विमान के समीप से उच्चस्वर हुआ—
असतो मा सद्‌गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

अग्निमित्र ने ऋषि के वाक्य दुहरा दिए। सबने उसकी ओर दृष्टि फेरी। कुछ उठते हुए-से उसने तीव्रतर स्वर में पुनः पढ़ा—शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिः स्रवन्तु नः।

यास्क ने कुछ झिझक कर नीचे पार्श्व की ओर देखा। लोकायत ने पहले अग्निमित्र की ओर देखा फिर ऋषि की ओर। उसका मुख-कमल कियत् हास्य से खिल उठा। क्षुरप्र ने अग्निमित्र को बलपूर्वक पकड़ कर बैठा लिया।

× × ×

मध्यस्थ ने गम्भीर हो कहा—"कार्य प्रारम्भ हो"। फिर ऋषि की ओर देखकर वामाचार्य से कहा—वय की न्यूनता से वाद

का आरम्भ आप करेंगे। वैदिक सिद्धान्तों की प्राचीनता के कारण उत्तर का अधिकार ऋषि को होगा और 'प्रतिज्ञा' का आपको। आप प्रतिज्ञा करें।

कुछ हँसता-सा लोकायत बोला—महर्षि, वैदिक-सिद्धान्तों की प्राचीनता हेत्वाभास है, असिद्ध। फिर भी आपके उस कथन पर मेरा कुछ वक्तव्य नहीं। परन्तु 'प्रतिज्ञा' तो हो चुकी। ऋषि ने उसमें मध्यस्थ की अनुमति की आवश्यकता नहीं समझी।

लोग विस्मित हो उठे। उपाध्याय ने कुलपति की ओर देखा और अग्निमित्र का मुख अवाक् हो कुछ खुल गया। निरुक्तकार ने कुछ सतर्क हो पूछा—सो कैसे?

मार्त्तंड अप्रयास बोला—मन्त्रोच्चारण के समय ही 'गमय' पद में ऋषि ने 'प्रतिज्ञा' की प्रतिष्ठा कर दी। अब केवल प्रश्न—पूर्व-पक्ष—मेरा है।

जनता की उत्सुकता बढ़ी। नेत्र मध्यस्थ पर जा टिके। ऋषि का हृदय धक-धक करने लगा। उपाध्याय ने लोकायत के अद्भुत तर्क की प्रखरता समझी, क्षुरप्र का हृदय भी उसे सराह उठा। यज्ञसेन, अग्निमित्र और अधिकांश जनता ने मार्त्तंड का अभिप्राय नहीं समझा।

मध्यस्थ ने स्वीकार किया—'प्रतिज्ञा' हो चुकी। प्रार्थना सस्वर होने के कारण ऋषि की केवल अपनी नहीं रही। उस पर सभा का अधिकार हो गया और वह प्रतिपक्ष का लक्ष्य बनी। 'गमय' में जड़ प्रकृति से भिन्न चेतन, कार्यक्षम, शक्ति का निर्देश है—अतः 'प्रतिज्ञा' हो चुकी, परन्तु अनजानी। अब प्रतिपक्ष के इच्छानुसार कार्य होगा—यदि उसे स्वीकार हो तो वह स्वयं अपनी 'प्रतिज्ञा' करे अथवा यदि उसे आपत्ति न हो तो ऋषि अपनी 'प्रतिज्ञा' का विस्तार करे।

यज्ञसेन जन-समुदाय का मत ध्वनित करता-सा क्षुरप्र से बोला—साधु, साधु। 'प्रतिज्ञा' का लाभ ऋषि को मिला।

क्षुरप्र ने कुढ़कर कहा—मूर्ख, प्रश्न का अधिकार अनर्थ करता है, प्रतिपक्ष का अस्त्र हो जाता है।

ऋषि ने स्पष्ट 'प्रतिज्ञा' की—ईश्वर विश्व का कर्त्ता, पोषक और अन्तक है 'गमय' में उसकी अनन्त शक्ति की परिचर्या है।

प्रतिपक्ष ने आपत्ति की—प्रमाण ?—प्रत्यक्ष ?

"प्रमाण है किन्तु प्रत्यक्ष नहीं।"

"कभी था ?"

"कभी नहीं—'कः वा ददर्श' ?"

"वेद ऋषिकृत हैं अथवा अपौरुषेय, ईश्वरकृत ?···"

मध्यस्थ बोला—प्रतिज्ञा अभी प्रतिष्ठित नहीं हुई—ईश्वरत्व अभी विवादग्रस्त है, पूर्वपक्ष की आपत्ति है।

मार्त्तंड बोला—'ईश्वरकृत' शब्द सापत्ति स्वीकार करता हूँ। उत्तरपक्ष वक्तव्य करे।

ऋषि बोला—वेद अनादि हैं, अपौरुषेय, ईश्वरकृत। द्रष्टा केवल 'साक्षात्कृतधर्माणः' ऋषि हैं। वे केवल उस ज्ञान-शृंखला का दर्शन करते हैं।

"जब वेद अनादि हैं तब उनका कारण कैसा ?"

ऋषि कुछ स्तम्भित हो गया, अग्निमित्र व्यथित। उपाध्याय झिझका, क्षुरप्र कुछ व्यग्र हो उठा।

लोकायत ने सँभाला—प्रश्न सापत्ति छोड़ दिया। अब ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण ?

"ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वथा सत्य

भी नहीं—पुत्र पिता को देखता है, कदाचित् पितामह को भी, परन्तु प्रपौत्र प्रपितामह को प्राय: नहीं देखता और प्रपितामह से पूर्व तो निस्सन्देह नहीं। फिर क्या प्रपितामह आदि की स्थिति संदिग्ध है ?"

"परन्तु पुत्र पिता को देखता है, पिता अपने पिता को और उसका पिता अपने पिता को। इस प्रकार यह शृंखला टूटती नहीं। यह सापेक्ष प्रत्यक्ष है।"

मध्यस्थ ने पुकारा—विषयान्तर ! ऋषि ईश्वर के अस्तित्व में प्रमाण दे।

ऋषि बोला—प्रत्यक्ष आकार का दर्शक है, ईश्वर निराकार है। मनुष्य की परिमित मेधाशक्ति असीम की कल्पना नहीं कर सकती अतः अनुमान प्रमाण ही उसके प्रति युक्तियुक्त होगा।

"वक्तव्य में तर्कदोष है—यदि परिमित मेधा असीम की कल्पना नहीं कर सकती तो मानव अनुमान की शक्ति ही किस प्रकार असीम का स्पर्श कर सकती है ? और यह तर्क अनुमान प्रमाण के औचित्य का कारण उपस्थित नहीं करता। परन्तु सापत्ति यह भी स्वीकार करता हूँ, अनुमान प्रमाण प्रस्तुत हो।" सस्मित वदन मार्त्तंड नेत्रों की ज्योति पसारता हुआ-सा बोला।

"जिस प्रकार पुत्र-कार्य से पिता-कारण का अनुमान होता है उसी प्रकार विश्व-कार्य से पिता-कारण का अनुमान सत्य सिद्ध होता है। और क्योंकि अनादि-प्रवाह सृष्टि का वह जनक है, स्वयं चेतन, सनातन, अनादि है।"

"अनेक हेत्वाभास ! अनेक-हेत्वाभास।" प्रतिपक्ष बोल उठा।

"अनेक हेत्वाभास ! अनेक हेत्वाभास !" मध्यस्थ ने पुकारा।

"हेत्वाभास !" उपाध्याय के हृदय ने स्पष्ट कहा।

ज़ुरम्र की भ्रुकुटियों में बल पड़ गए। अग्निमित्र ने कानों को ढक लिया। मार्त्तंड हँसता रहा।

लोकायत बोला—पुत्र का पिता को देखना एक परम्परा है। यह साथ ही, जैसा कह चुका हूँ, सापेक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। ईश्वर को कभी किसी ने नहीं देखा। रही अनुमान की बात—सो पूर्व प्रतिज्ञा में एक और प्रतिज्ञा हुई—सृष्टि का अनादित्व-वाद विवादास्पद है, विश्व कार्य है यह भी सन्दिग्ध है, दूसरी प्रतिज्ञा है, साध्य। परन्तु सापत्ति स्वीकृत। एक प्रश्न—क्या सृष्टि का प्रवाह अनादि है ?

अप्रतिभ ऋषि ने स्वीकार किया—हाँ।

उपाध्याय सकुच गया। मध्यस्थ ने नेत्र कुछ संकुचित कर लिए। मार्त्तंड के नेत्र अर्थ-भरे थे, चमक उठे।

उसने पूछा—फिर अनादि-प्रवाह-सृष्टि का कर्त्ता कैसा ?

उपाध्याय ने जैसे स्वयं पूछा।

"जैसे गंगा का हिमाचल है।" उत्तर मिला।

"यह अर्द्ध सत्य है। गंगा का आरम्भ हिमाचल नहीं। हिमाचल का जल मेघ का है और मेघ का जल समुद्र का, फिर समुद्र का जल गंगा का—प्रवाह अविच्छिन्न है, अनादि, अनन्त। न कारण है, न अन्तक होगा। वृत्ताकार प्रवाह में ओर-छोर, आदि-अन्त नहीं होते। जहाँ आदि है वहाँ कारण है, जहाँ अनादित्व है वहाँ कारण वह स्वयं है। भला बीज प्रथम है अथवा वृक्ष ?"

जनता ऋषि की ओर आसरा लगाए देख रही थी। वह निरुत्तर था।

मार्त्तंड फिर बोला—विश्व कार्य कैसे है ? कैसे हो सकता है ? पुत्र का कारण पिता है और पिता का उसका पिता……

मध्यस्थ ने आपत्ति की—पुनरुक्ति।

मार्त्तंड बोला—वक्तव्य पूरा सुन लिया जाय, पुनरुक्ति सकारण है, सार्थक।

मध्यस्थ ने स्वीकृति-सूचक संकेत किया।

मार्त्तंड ने वक्तव्य पूरा किया—विश्व कार्य कैसे है ? कैसे हो सकता है ? पुत्र का कारण पिता है और पिता का उसका पिता। इस परम्परा में कहीं उच्छृङ्खलता नहीं, कहीं किंचित् अभाव नहीं। फिर पुत्र दोनों हैं—पुत्र भी, पिता भी। पुत्र के रूप में वह पिता-कारण का कार्य है और पिता के रूप में भावी पुत्र-कार्य का कारण। यह व्यापार समस्त प्राणियों का है फिर विश्व कार्य क्योंकर हुआ ? वह तो कारण-कार्य की अनादि परम्परा है और अनादि परम्परा का कोई स्रष्टा नहीं।

मध्याह्न ढल रहा था। जनता अपनी अशक्यता पर कुढ़ रही थी। अग्निमित्र ने कानों पर हाथ रखकर कहा—"श्वघ्नी, श्वघ्नी।" क्षुरप्र क्षुब्ध था, यज्ञसेन मूढ़, उपाध्याय मूक ?

लोकायत ने प्रश्न किया—यदि ईश्वरत्व को सापत्ति ग्रहण करें तो प्रश्न है वह सृष्टि कैसे करता है ?

मध्यस्थ ने प्रश्न को अप्रासंगिक कहा। प्रतिज्ञा गिर चुकी थी, प्रश्न उठता ही न था।

"उत्तरपक्ष की इच्छा पर इसे छोड़ा जाय।" लोकायत ने प्रार्थना की।

मध्यस्थ ने ऋषि की ओर देखा, कुछ आवेग का आभास हुआ। उसने उत्तर की स्वीकृति दी।

ऋषि बोला—जड़ प्रकृति और चेतन आत्मा की सहायता से वह सृष्टि करता है। आत्मा कर्मानुसार अनन्त योनियों में जाता है।

"यदि प्रकृति और आत्मा आरम्भ से ही हैं तो उनका सर्जन कैसा ?"

"प्रकृति और आत्मा का भी वही स्रष्टा है। मकड़ी की भाँति वह सृष्टि रूपी जाले को उदर से उगलकर सृष्टि की क्रीड़ा करता है फिर उसे उदरस्थ कर लेता है।"

निरुक्तकार मुसकराया।

मार्त्तंड हँसता हुआ बोला—फिर क्या ईश्वर के उदर भी है ? वह क्या साकार भी है ? फिर उस असीम निराकार की कल्पना का क्या हुआ ?

ऋषि सहम गया। अग्निमित्र ने अधर काटा, मुट्ठी कस ली।

लोकायत ने और पूछा—और आत्मा के वे कर्म कैसे ? अनादि प्रवाह में आत्मा का योनिविधान कैसा ? फिर यदि हो भी तो सर्जन की आरम्भिक अवस्था में प्राथमिक आत्मिक सर्जन के समय कर्मों की परम्परा कैसी ? और असंख्य अनन्त आत्माओं का असंख्य अनन्त जन्म धारण करने और अन्त को प्राप्त होने वाले प्राणियों में प्रवेश घोर कष्ट-कल्पना है। आर्ष सिद्धान्त को इसे छोड़ना होगा।

अग्निमित्र निरंतर प्रबल वेग से गायत्री जप रहा था—देवों से ऋषि को कृत्या के अभिशाप से मुक्त करने की प्रार्थना कर रहा था। पिता की ग्रीवा पर चिबुक रखे एक तीन वर्ष का बालक अग्निमित्र के होंठों का वेग से संचालन बड़े कुतूहल-पूर्वक देख रहा था। पिता की दाढ़ी के छोटे केशों को खींच-

खींच वह उसे अग्निमित्र की ओर दिखा रहा था। अग्निमित्र ने कड़ी दृष्टि से उसकी ओर घूरा। कदाचित् उसके मंत्र का स्तवन भी उसी पूर्व तीव्रता से कुवाच्य में परिणत हो गया। बालक चीत्कार कर उठा।

यह ऋषि के अन्तर का चीत्कार था।

× × × ×

मध्यस्थ ने प्रतिपक्ष को अपनी प्रतिज्ञा प्रस्तुत करने को अनुमति दी।

लोकायत बोला—सृष्टि अनादि है, अनन्त। इसके कर्त्ता-कारण का प्रश्न नहीं उठता। कारण और कार्य प्रत्येक वस्तु में निहित हैं। मैं जिस सत्य की व्याख्या प्रश्नों में कर चुका हूँ वह सिद्धान्तरूप में इस प्रकार है—अनादि, अनन्त एक शृंखला है। इसकी पूर्व और उत्तर कड़ियाँ कारण और कार्यरूप में सम्बद्ध हैं। सृष्टि का रूप भूतों के विकार का स्पष्टीकरण है। चेतन शाश्वत-नित्य है जैसे जड़ प्रकृति। चेतन का धर्म है चेतना और प्रकृति का जड़ता, वैसे ही जैसे अग्नि का धर्म है प्रज्वलन और जल का शीतलता। चेतन का धर्म है—वैकारिक उत्पत्ति, आहार, वर्द्धन, प्रजनन, ह्रास और वैकारिक अन्त। अनन्त संख्या में अनादि काल से चेतन इसी प्रकार जीवन धारण करते और मृत्यु प्राप्त करते रहे हैं, अनन्त काल तक करते रहेंगे। शोक-विषाद उनका नित्य धर्म है। कर्म-अकर्म की व्यवस्था भ्रममूलक।

ऋषि ने आपत्ति की—और पाप-पुण्य?

"वह कल्पित है, भ्रममूलक। शाश्वत, प्राकृतिक, नित्य धर्म

से परे चेतन का कोई धर्म नहीं। जीवन मृत्यु का है। मृत्यु के पश्चात् पुण्य का कोई मूल्य नहीं, यश की कोई सुविधा ही नहीं। पापों अथवा दारिद्रय की छाया मृतक को नहीं छूती। उसके पुत्र-पौत्र सम्पन्न अथवा भिखारी हों तो, उसके यश के विस्तार से पृथ्वी ढँकी हो तो, अथवा उसके अयश से दिगन्त व्याप्त हो तो, मृतक से सम्बन्ध ही क्या? चेतन यहीं उठता है, यहीं खो जाता है।"

पूर्वपक्ष ने आपत्ति की—फिर तो समाज की आवश्यकता नहीं? हित करने का प्रयोजन नहीं?

"है—इस अर्थ कि हम जब तक जीवित रहें आनन्द से रहें और हमारे सुख देने के बदले अन्य भी जीवन-काल में हमारा हित करें।"

"अच्छा, सृष्टि का प्रयोजन क्या है?"

"यह प्रश्न नहीं उठता क्योंकि प्रयोजन स्रष्टा से सम्बन्ध रखता है और क्योंकि विश्व का स्रष्टा नहीं, यह अनादि, अनन्त है—प्रयोजन का प्रश्न नहीं होता।"

"सृष्टि में भेद क्यों है? पिता के सारे पुत्र सदा एक से क्यों नहीं होते?"

क्योंकि व्यक्ति अनेक हैं, पुरुष और स्त्री की इच्छाएँ, सुविधाएँ अनेक, विभिन्न और विविध हैं। काल-भिन्नता के साथ-साथ उनमें रुचिवैचित्र्य और साधनवैचित्र्य फलते और लय होते रहते हैं—प्रजा में समानता क्योंकर हो?"

"क्या विश्व के सब विस्मयजनक कार्य और उनके कारण उत्तरपक्ष को ज्ञात हैं?"

मध्यस्थ ने आपत्ति की—विषयान्तर !

लोकायत बोला—मैं इसका उत्तर दूँगा।

मध्यस्थ ने फिर आपत्ति नहीं की।

लोकायत ने उत्तर दिया—विश्व के सारे विस्मयजनक कार्य मेरे जाने नहीं हैं परन्तु उनके कारण हैं। केवल जाने नहीं हैं। पर जाने जाएँगे।

"किसके द्वारा ?"

"पूर्व और उत्तर दोनों पक्षों के द्वारा।"

"पूर्वपक्ष क्यों जाने ?"

"क्योंकि सत्य की खोज का उत्तरदायित्व पूर्व उत्तर दोनों पक्षों पर है।"

मध्यस्थ मूक था, उपाध्याय मूढ़, क्षुरप्र चकित। जन-समुदाय कोलाहल-रहित था, अग्निमित्र संज्ञाहीन-सा, ऋषि निरुत्तर।

मध्यस्थ ने लोकायत की विजय घोषित की। परन्तु लोकायत ने मस्तक झुका लिया।

उसने कहा—एक बात और। जय-पराजय सत्य की प्रतिष्ठा नहीं करती। तर्क वंचक है। तर्क की प्रौढ़ता और दुर्बलता की एक परम्परा है। वह अपनी प्रौढ़ता द्वारा कभी पूर्वपक्ष सिद्ध करता है, कभी अपनी दुर्बलता के कारण उत्तरपक्ष। यदि प्रत्येक बार सत्य की प्रतिष्ठा होती है तो उसमें व्यभिचार होता है, और सत्य एक है अनेक नहीं। उसमें व्यभिचार नहीं हो सकता। अतः तर्क कुछ स्थिर नहीं करता।

उपाध्याय ने शंका की—तब कर्म क्यों करें ? अन्तःप्रेरणा से ?

"मैं नहीं जानता—परन्तु अन्त:प्रेरणा का कोई अर्थ नहीं। अन्त:प्रेरणा घनीभूत संस्कार हैं। उसमें विकार होते हैं! जो बालपन में था, युवावस्था में नहीं रहा, जो युवावस्था में था वह प्रौढ़ावस्था में नहीं रहा।"

सभा विसर्जित हो गई। धीरे-धीरे भीड़ छँट गई। उपाध्याय शक्तिहीन, नीरव, तर्कहीन हो गया था। जब उसने देर बाद मस्तक उठाया गोधूलि धीरे-धीरे बढ़कर व्याप्त हो रही थी।

उपाध्याय ने धीरे-धीरे कहा—सारा शब्दाडम्बर है, वाग्जाल, अनृत!

राष्ट्र-भेद

[भारतवर्ष के प्राचीन गणतन्त्रों का स्वरूप अब प्रतिष्ठित हो चुका था। इस कहानी में उसी का वर्णन है। कहानी के कई प्रसंग अट्ठ-कथा, महावस्तु, जातक-कथाओं आदि से प्रमाणित हैं। बौद्ध-संघ के अधिवेशनों की कार्य-प्रणाली (Procedure) राजनैतिक संघ से ली गई थी। स्वयं 'संघ' शब्द राजनैतिक संघ की छाया है। वज्जिसंघ के कार्यविवरण में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे 'आसनप्रज्ञापक', 'गणपूरक' (Whip) 'ज्ञप्ति' (Notice), 'प्रतिज्ञा' (Resolution), 'कम्मवाचा' (Motion), 'छन्द' (Vote), 'शलाका' (Voting Ticket) 'शलाकाग्राहापक' (Receiver and Counter of the Tickets, i. e. Secret Ballot), 'पवेनि-पुत्थक' (अपराधी के अभियोग, अपराध दर्ज करनेवाला रजिस्टर), 'राजा' (सभापति), 'उपराजा' (उपसभापति), 'राजुक' (संघ का सदस्य जो ७७०७ राजकुलों के इतने ही प्रतिनिधियों में से एक था), 'विनिश्चय-महामात्र' (अभियोग की सत्यता निश्चित करनेवाला पहला न्यायालय), 'व्यावहारिक' (Lower Judges—दूसरा न्यायालय), 'सूत्रधार' (Doctors of Law —तीसरा न्यायालय), 'अष्टकुलक' (Council of Eight—आठ न्यायाधीशों का न्यायालय)। ये न्यायालय उत्तरोत्तर अपील के थे। परन्तु यदि अभियुक्त किसी एक न्यायालय से निर्दोष प्रमाणित होकर मुक्त हो जाता तो वह आगे के न्यायालय में नहीं लाया जा सकता था। काल छठी शती ई० पू०।]

३०—८—१६४०

{ प्रातः ७—१०
{ सायं ६— ८

१

स्वराज्य-सम्भूत शक्ति से समृद्धि बढ़ी, स्वातन्त्र्य के विवेक से नागरिक परम्परा का विकास हुआ। विदेहों और लिच्छवियों के सम्मिलित वज्जि-संघ की शक्ति साम्राज्य-लोलुप अजातशत्रु के नेत्रों में खटकने लगी। गंगा के उत्तर में उसके साम्राज्य-प्रसार में वज्जि-संघ का बड़ा रोड़ा आ अटका। वैशाली की शक्ति नष्ट करने की उसने कितनी ही युक्तियाँ कीं, परन्तु सब निष्फल हुईं। तब उसने उस पर सम्मुख आक्रमण की ठानी।

जब इस कार्य की उपयोगिता पर तथागत के मत के अर्थ कुणिक का आमत्य वहाँ पहुँचा, तथागत ने आनन्द से पूछा—आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जि-संघ के अधिवेशन एक पर एक हो रहे हैं और उनमें सदस्यों की संख्या भी सदा प्रचुर रहती है?

"हाँ, सुना है, तथागत।" आनन्द ने कहा।

पुनः मगध के अमात्य ने तथागत का स्वर सुना—

"आनन्द, जब तक वज्जियों के अधिवेशन एक पर एक और सदस्यों की प्रचुर उपस्थिति में होते हैं,

"जब तक वे अधिवेशनों में एक मन से बैठते, एक मन से उठते और एक मन से संघ-कार्य सम्पन्न करते हैं,

"जब तक वे पूर्वप्रतिष्ठित व्यवस्था के विरोध में नियम निर्माण नहीं करते, पूर्वनिर्मित नियमों के विरोध में नव नियमों की अभिसृष्टि नहीं करते, और जब तक वे अतीत काल में प्रति-स्थापित वज्जियों की संस्थाओं और उनके सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करते हैं,

"जब तक वे वज्जि अर्हन्तों और गुरुजनों का सम्मान करते हैं, उनकी मंत्रणा को भक्तिपूर्वक सुनते हैं,

"जब तक उनकी नारियाँ और कन्याएँ शक्ति और अपचार से व्यवस्था-विरुद्ध व्यसन का साधन नहीं बनाई जातीं,

"जब तक वे वज्जि-चैत्यों के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखते हैं,

"जब तक वे अपने अर्हन्तों की रक्षा करते हैं,

"तब तक, हे आनन्द, वज्जियों का उत्कर्ष निश्चित है, उनका अपकर्ष संभव नहीं।"

मगध के अमात्य ने यह वक्तव्य सुना।

"मगधराज वज्जियों का पराभव नहीं कर सकते"। उसने धीरे-धीरे कहा।

× × ×

पावा में शान्ति-लाभ करते हुए तीर्थंकर ने भी तथागत का यह वक्तव्य सुना।

"सत्कामना फलवती हो! परन्तु वज्जि-संघ शक्ति का संचय कर चुका है। शक्तिजनित दृप्ति से अनाचार, अपचार होंगे, समृद्धिजनित व्यसन से विलास, व्यभिचार होंगे। उधर कुणिक की दुरभिसन्धि का झंझावात! वज्जि-संघ, तेरी कौन रक्षा करेगा?" उसने मन ही मन कहा।

२

"मातंग !"

लम्बी कशावाले दक्षिण कर में वाम कर की रज्जुओं को एकत्र करता हुआ किंचित् ग्रीवा मोड़ सारथी ने कहा—देवि ।

"तुरगों की गति धीमी कर दो ।"

वैशाली के प्रमुख राजपथ पर वायुवेग से दौड़ते रथ की गति धीमी हो गई । चारों अश्वों की कलँगियाँ, जो उन श्वेत धावनों की तीव्र गति के कारण अलक्ष्य हो गई थीं, अब दिखाई पड़ने लगीं । राजमार्ग के दोनों पार्श्व में वायुसेवन के निमित्त जाते हुए सुन्दर सजे नागरिकों की असंख्य पंक्तियाँ अब दृष्टि-गोचर हुईं । सहस्रों नेत्र लिच्छवियों की विख्यात वारवनिता की कमनीय मूर्ति पर आ टिके । अभिवादनों के उत्तर कामसेना ने कभी करों को उठाकर, कभी शिर के ईषत् कम्पन से दिया ।

सारथी रास खींचे रथ को धीरे-धीरे बढ़ाए जा रहा था । उसने विचारा आज कई दिनों से काम-वन के इस मोड़ पर ही स्वामिनी क्यों रथ की गति धीमी करा देती हैं ।

उसने प्रकट पूछा—देवि, क्या रथ को काम-वन की ओर मोड़ दूँ ?

"आदेश की प्रतीक्षा करो, मातंग । उतावले न हो" । भृकुटियों में कुछ बल डाल वारांगना ने कुछ गम्भीर स्वर में कहा ।

संयत सूत ने मस्तक नीचा कर लिया ।

कुछ क्षणों के पश्चात् वारवनिता ने पुनः कहा—मातंग !

मातंग ग्रीवा मोड़ता हुआ, तुरगों को कठिनता से संयत करता बोला—देवि ।

"वह जो सामने पावा-पथ इस राजमार्ग को काटता है, उसका एक छोर पूर्व-तोरण से होता हुआ काम-वन के पार्श्व से होकर जाता है, वहीं दाहिनी ओर काम-वन के मुखालिन्द तोरण का विशाल गज है। उसके समीप के चतुष्कों में मध्य चतुष्क के सम्मुख रथ की गति और धीमी कर देना।" स्वर की प्रकृत सरसता लौट आई थी। सारथी आश्वस्त हो गया।

"देवी की जैसी आज्ञा"। मातंग ने उन्मुख मस्तक नीचा कर लिया। तुरग की रज्जुएँ उसने कुछ ढीली कर दीं। अश्व पुनः तीव्र हो चले।

"नहीं नहीं, मातंग, गति बनी रहने दो—वही, पूर्ववत्"।

रथ की गति पूर्ववत् धीमी हो गई।

रथों और कर्णीरथों का संघट्ट और अविरल जन-संपात पावा-पथ की ओर फिर जाता था। जब कामसेना का रथ पूर्व तोरण से होकर काम वन के दक्षिण पार्श्व में फिरा, मार्ग निर्जन-सा मिला। समीप ही काम-वन के मुखालिंद तोरण का विशाल गज अपना प्रलम्ब भुजङ्ग-सरीखा शुंड उठाए खड़ा था। मध्य चतुष्क के समीप कई अश्वारोही मार्ग के मध्य में ही खड़े थे। एकाध आरोही पथ के इस पार से उस पार आ-जा रहे थे। रथ के पहुँचते ही अश्वारोही पथ के दोनों ओर पंक्ति बाँध खड़े हो गए। उनके उन्नत मस्तक पर सुन्दर उष्णीष सोहते थे।

कुछ दूर से ही रथस्वामिनी ने देखा—चतुष्क में खड़ा एक विशालकाय युवक समीप के अश्व पर बैठ गया। सुन्दर सजीले युवक के उष्णीष पर सामने स्वर्ण-पत्तर जड़ा था जिसके ऊपर श्वेतपक्ष की कलँगी झिलमिल-झिलमिल हिल रही थी। रथ के समीप आते ही अश्वारोही युवक पथ के अत्यन्त निकट

खड़ा हो गया। इस ओर के अश्वारोही हटकर उसके पीछे खड़े हो गए। वे उसके अनुचर थे।

युवक ने अश्वरज्जु वामस्कन्ध में अटकाकर युगल करों से कामसेना का अभिवादन किया। उसकी मुद्रिकाओं के हीरक सन्ध्या की अरुणिमा में चमक उठे। शिर के ईषत्कम्पन से वारवनिता ने उसका प्रत्यभिवादन किया।

फिर उसने कहा—मातंग, रथ रोक दो।

मातंग ने रास खींच ली, तुरग रुक गए। मातंग ने रज्जुओं को उनके अंकुश में अटका दिया, फिर वह लम्बी कशा ले दोनों हाथों में उसे पलटता हुआ खेलने-सा लगा। गणिका का सेवक होने के कारण उसके ग्राहकों की ओर देखने का उसे अभ्यास न था। सधे अश्व चुपचाप संकेत की प्रतीक्षा में खड़े रहे।

कामसेना ने युवक से पूछा—विदेशी हो, आरोही?

"विदेशी हूँ, देवि—दूर पंचनद का।"

विद्रुम-पंक्ति खुल गई। कुहनियों को उठा दोनों करों से बृहत् चूड़ा-ग्रन्थि की पुष्पमालिका को यथास्थान करती युवती ने हँस दिया—अकृत्रिम, सरल हास।

"सो तो स्पष्ट है, आरोही।"

"वह कैसे, देवि?" युवक ने चकित हो पूछा। उसके सारे अनुचर रथस्वामिनी के उत्तर से विस्मित हो उन्मुख हो उठे।

"वह कैसे?—तुम्हारी वेश भूषा से। तुम्हारे ग्रीवा तक कटे केशों से, अंगद और कुंडलों की गढ़न से, अंजन के आधिक्य से, ताम्बूल के अभाव से और अब, शब्दों के उच्चारण से।" शब्दों के अनियंत्रित प्रवाह में शक्ति और आदेश की झंकार थी। सुननेवाले मुग्ध हो गए। विदेशी उसकी ओर दत्तदृष्टि हो सुन रहे थे—मन्त्र-मुग्ध, शप्त-से।

"वज्जि-नागरिक के लम्बे केश पृष्ठभाग पर खेलते हैं, विदेशी, और उनके वक्ष केवल पुष्प तथा तारहारों से सुशोभित रहते हैं—वैशाली में केवल नारियों के वक्ष ही अंशुक से प्रच्छन्न रहते हैं"। नारी फिर हँसी।

युवक झिझका। संक्रामक हास एक मुख से दूसरे पर खेलने लगा। केवल मातंग पूर्ववत् करों में कशा को पलटता रहा।

"मैं मालव हूँ, देवि—पंचनद का मालव, मालवगण के सेनापति का तनय—सुकंठ—" युवक बोलता-बोलता पार्श्व की ओर कुछ मुड़ गया—"और ये हैं मेरे सहचर—सुज्येष्ठ, मलय, कुन्तल, कंठक, नाग"—फिर सामने पथ के उस पार संकेत कर उसने वक्तव्य पूरा किया—"और वे, मेरे अनुयायी सामन्तपुत्र।"

युवती ने मानो और कुछ न सुना। अधिकार का जीवन बितानेवाली उस नारी के निमित्त ही जैसे सारा विश्व रचा गया हो और वह स्वयं हो उस विश्व-हृदय का केन्द्र। उसने जैसे युवक के वक्तव्य का अधिक भाग सुना ही नहीं। रथ की पृष्ठ-पट्टिका का दूसरी ओर अपनी कुहनी रखती हुई उसने दक्षिण कर की मुट्ठी पर अपना कपोल धर दिया, फिर किंचित् करवट-सी हो एक पाँव को दूसरे पर चढ़ा कुछ विचारती-सी वह अपने आप बोली—" 'सुकंठ', न, 'सुकंठ' नहीं, 'सुग्रीव'—मैं उसे 'सुग्रीव' कहती।"

फिर जैसे अपने को अपने प्रासाद के अन्तरालिन्द से दूर राजपथ पर रुकी जान वह कुछ चिहुँकी। उसने जैसे संज्ञा लाभ कर पूछा—मुझे जानते हो, युवक?

"जानता हूँ, देवि। जानकर ही सुदूर पश्चिम से आया हूँ। नित्य इस रथ की प्रतीक्षा में यहाँ खड़ा होता हूँ—एक झलक के निमित्त। आज देवता प्रसन्न हुए और मेरे सौभाग्य का उदय

हुआ। भला वैशाली की विश्वविख्यात कामसेना को कौन नहीं जानता !"

बात काटती हुई सी कामसेना ने सीधी बैठकर कहा—प्रगल्भ, शब्दशूर मालव, रहने दो व्याख्या। वैशाली में ध्वनि और संकेत का साम्राज्य है—यहाँ बाण और करवाल, शब्द और शक्ति अनावश्यक हैं, निरर्थक, निन्द्य।

इतने अश्वारोही थे, युवा, सशक्त, सम्पन्न, परन्तु यह युवती उनके भावों, उनकी कामनाओं से खेल रही थी—स्वयं गर्विता प्रगल्भा, वाग्विलासिनी।

"अच्छा, आओ विदेशी, कामसेना के अतिथि बनो। रथ पर आओ।" उसने मुसकराते हुए कहा।

मालव अश्व से उतर पड़ा। उस पार से धीरे-धीरे आकर एक अनुचर ने उसके तुरंग की रज्जु पकड़ ली। केवल एक बार कामसेना ने मालव के अनुचरों और मित्रों की ओर दृष्टि उठाई।

उसने कहा—मालव को जब चाहो मेरे प्रासाद में पा सकते हो। वैशाली में श्रीमानों को शरीररक्षकों की आवश्यकता नहीं पड़ती। अथवा, चाहो तो मेरा प्रासाद तुम्हारे निमित्त प्रस्तुत है।

उसने मालव की ओर देखा। मालव ने रथ पर बैठते हुए कहा—धन्यवाद, देवि, इनका पंचनद आवास में रहना आवश्यक है।

मातंग ने पहली बार मस्तक उठाया। रज्जु और कशा खींचकर उसने रथ घुमा लिया और वनायु-तुरग वारांगना के ग्रीष्म प्रासाद की ओर उड़ चले।

मालव स्तब्ध था, मुग्ध, संतुष्ट।

३

एक पक्ष बीत गया, दूसरा बीता, तीसरा भी। अमोघवर्ष राजुक को कामसेना के प्रासाद में प्रवेश न मिला।

अमोघवर्ष संवज्जि-संघ का राजुक था। सात सहस्र सात सौ सात राजाओं में उसकी गणना थी। संघ के अधिवेशनों में भी उसका पद विशिष्ट था। वह वज्जि-संघ का गणपूरक था। गणराज-कुलों में से एक प्रशस्त कुल में सम्भूत अमोघवर्ष लिच्छवियों के कुलपुरुषों में अपनी वक्तृता और समृद्धि के कारण विख्यात था। राजुकों की भाँति उसे भी वैशाली की विख्यात पुष्करिणी में स्नान का अधिकार था और वह भी उसके जल से पदप्राप्ति के अवसर पर अभिषिक्त हुआ था। उसे आश्चर्य था—वारांगना, जो उसके सहवास से अपना सम्मान मानती थी, अब अपने द्वार उसके प्रति क्यों आवृत रखती है। सप्ताहों नित्य वह कामसेना के प्रासाद को आता और द्वारपाल से प्रेयसी के सम्बन्ध में पूछता, परन्तु सदा उसे विपरीत उत्तर मिलता।

एक दिवस जब अमोघवर्ष ने भीतर जाना चाहा द्वारपाल ने विनीत भाव से निवेदन किया—स्वामिनी नहीं हैं।

यह कोई नवीन बात न थी। ऐसे अवसरों पर, वह प्रवेश करता, कामसेना की प्रतीक्षा करता और प्रतीक्षा का सारा समय वह उसके पक्षियों को चारा देने, उसके अपूर्ण चित्रों को पूरा करने, उसके प्रसाद के निमित्त प्रमदवन में दोला बाँधने में व्यस्त रहकर व्यतीत करता।

सो उसे कुछ आश्चर्य हुआ—द्वारपाल का यह कर्तव्य नहीं था कि वह वज्जिराज्य के राजुक से इस प्रकार कुछ कहे। गृह-स्वामिनी की अनुपस्थिति की बात वह उसकी अनुचरी द्वारा

सुनता। उसने कहा—'अच्छा'। और वह सोपान मार्ग की ओर बढ़ा। परन्तु बलिष्ठ द्वारपाल का रजतदंड बीच मार्ग की ओर बढ़ गया।

अमोघवर्ष के रोम-रोम में आग लग गई।

उसने सस्वर पुकारा—पन्थक!

द्वारपाल ने शिर झुका लिया। फिर धीरे से कहा—श्रीमन्, पन्थक आज्ञाकारी सेवक है।

अमोघवर्ष समझ गया।

बोला—पन्थक, तुम निरपराध हो। परन्तु मेरा आना और इस प्रकार लौट जाना अपनी व्यस्त स्वामिनी से कहोगे।

द्वारपाल ने मस्तक झुकाकर अभिवादन किया। अमोघवर्ष चला गया। जाते-जाते उसने सोचा—जान पड़ता है जनता की बात नितान्त निर्मूल नहीं।

वह संघ-राज्य के वैदेशिक-विभाग की ओर चला।

वैदेशिक-विभाग के प्रमुख-लेखक के समीप पहुँच उसने पूछा—क्या पिछले सप्ताह राज्य-प्रवेश-पुस्तक में कुछ मालवों के नाम चढ़े हैं?

प्रमुख-लेखक ने पुस्तक खोलकर पढ़ा—"पंचनद के मालव—मालवगण के सेनापति का तनय सुकंठ—विशिष्ट अतिथि, उसके सहचर, सुज्येष्ठ, मलय, कुन्तल, कंठक, नाग—साधारण अतिथि, और उसके अनुयायी सामन्त-पुत्र, बन्धुवर्मा, अनुवीर शीतल, दिलीप, कीचक—अनुचर अतिथि, संख्या = ग्यारह। प्रयोजन—देशपर्यटन। स्थान—पश्चिम द्वार का अतिथि-भवन।"

नीचे, एक-एक नाम के सामने व्यक्ति के शरीर का वर्ण, विशेष चिह्न, वय आदि उल्लिखित थे।

और नीचे, मालव सुकंठ के प्रति एक टिप्पणी थी।

यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते प्रमुख-लेखक रुक गया। अमोघवर्ष ने जाना अभी कुछ और है जो वह नहीं बताना चाहता।

उसने कहा—और पढ़ो।

प्रमुख-लेखक बोला—श्रीमन्, आगे विशिष्ट अतिथि के वर्तमान अवकाश और कार्य का उल्लेख है।

राजुक ने लेखक की चुप्पी का अर्थ समझा। वह स्वयं कुछ झिझका, फिर धीमे स्वर में बोला—पढ़ो।

प्रमुख-लेखक ने अपने कर जोड़ दिए।

अमोघवर्ष ने फिर कहा—कुछ अधिकार के साथ—पढ़ो, अनीक, आगे क्या है?

प्रमुख-लेखक बोला—श्रीमान् वज्जि-संघ के व्यवहार-विधान से अपरिचित नहीं हैं—"विदेशी के कार्य-क्रम का ज्ञान राजा, उपराजा और प्रमुख-लेखक के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं होगा।"

अमोघवर्ष ने ललाट का स्वेद पोंछ लिया। रक्त चन्दन के संसर्ग से उसके श्वेत ललाट का अरुण राग और भी गहरा हो गया।

उसने कुछ सबल शब्दों में कहा—प्रमुख-लेखक, तुम्हारी टेक वज्जिसंघ के गणपूरक राजुक अमोघवर्ष के सम्मुख उचित नहीं।

"परन्तु, श्रीमन्, अनीक उसी वज्जि-संघ का भेद-रक्षक प्रमुख-लेखक है, उसके गुप्त संवादों की सुरक्षा का उत्तरदायी। राजा और उपराजा के अतिरिक्त वह और किसी को आगे का उल्लेख नहीं बता सकता। श्रीमन्, विनीत सेवक संघ के विधानों से आबद्ध है। क्षमा करें।"

"अनीक, तुम्हारा एक परिवार है और उसमें शिशुओं का अभाव नहीं।"

"प्रमुख-लेखक व्यावहारिक पदसम्बन्धी कार्यों के परिणाम का शोच नहीं करता, श्रीमन्! और उसके परिवार और शिशुओं की रक्षा और पालन का उत्तरदायित्व संघ पर है, वज्जि-संघ के राजुकों पर।" प्रमुख-लेखक मुसकराया।

राजुक कुछ सहमा। साम और दंड के संकेत व्यर्थ गए, विभेद का प्रयोग लगता नहीं था, रह गई दानविधि। अमोघ-वर्ष ने उसके प्रयोग का निश्चय किया। स्वर्ण की झंकार मधुर होती है, उसका दर्शन प्रिय—उसने विचारा।

अमोघवर्ष की कटिबद्ध नकुली में निष्कों की झंकृति हुई। उसने प्रमुख-लेखक पर अपनी दृष्टि डाली। उसकी दृष्टि अनीक की कठोर दृष्टि से मिली और लौट आई। राजुक का साहस छूट चला।

उसने एक बार और प्रयास करना उचित समझा। कहा—अनीक, अमोघवर्ष नकुली में कार्षापण नहीं बाँधता और सारी वैशाली जानती है कि उसके निमित्त कामसेना का अघट कोष सदा खुला रहता है।

प्रमुख-लेखक जो क्रोध से कुछ असंयत हो चला था, अमोघ-वर्ष के वक्तव्य के उत्तरार्ध से कुछ मुसकरा पड़ा। उसके हास में व्यंग्य छिपा था। परन्तु, अमोघवर्ष ने उसके व्यंग्य का अभिप्राय नहीं समझा।

अविचलित अनीक अपनी चेष्टा कठोर बना गम्भीर स्वर में बोला—संवज्जि-संघ के गणपूरक श्रीमान् राजुक अमोघवर्ष को वज्जि-राज्य के प्रमुख-लेखक को कर्त्तव्यच्युत करने का दंड विदित है। प्रमुख-लेखक आशा करता है कि ऐसी दशा में श्रीमान् उसे

अपने विशेष अधिकार के प्रयोगार्थ दंडधरों को आदेश करने पर बाध्य न करेंगे।

प्रमुख-लेखक की वाणी क्रोध और शक्ति से कंपित हो रही थी। इधर राजुक के नेत्रों से भी ग्लानि और क्षोभ की चिनगारियाँ निकल रही थीं। आवेग को रोकता हुआ वह चुपचाप अपना क्रोध पीकर विशाल शासन-भवन से वेगपूर्वक बहिर्गत हो गया।

× × ×

परन्तु अमोघवर्ष को शान्ति नहीं थी। वह उसी क्षण उपराजा के समीप पहुँचा। उपराजा व्यस्त था, परन्तु राजुक अमोघवर्ष को आया सुन वह शीघ्र मंत्रणा-कक्ष में आ गया। अमोघवर्ष ने अभिवादनकर कहा—श्रीमन्, मैं पंचनद-मालव के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहता हूँ।

उपराजा ने अमोघवर्ष की उद्विग्न मुद्रा देखी, उसे कुछ आश्चर्य हुआ। अमोघवर्ष सदा संयत, हँसोड़ रहता था। आज की उसकी चेष्टा असाधारण थी।

"आज इस प्रकार उद्वेग कैसा?" उसने हँसकर अमोघवर्ष से पूछा और उसको पास के भद्रपीठ पर बैठने का संकेत किया।

"श्रीमन्, मैं पंचनद-मालव के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहता हूँ।" अमोघवर्ष ने उपराजा के आसन ग्रहण करने के उपरान्त बैठते हुए अपनी बात दुहराई।

उपराजा ने फिर मुसकरा दिया, पर शीघ्र उसका मुख-मंडल कुछ गंभीर हो उठा।

उसने कहा—अवश्य पूछो, अमोघवर्ष। परन्तु मेरी समझ

में उसके अर्थ तुम्हारा वैदेशिक-विभाग के प्रमुख-लेखक के निकट जाना अधिक उचित होता।

"परन्तु मैं वहाँ जा चुका हूँ, श्रीमन्। मैं वहीं से आ रहा हूँ। वहाँ मेरी जिज्ञासा सफल नहीं हुई इस कारण श्रीमान् के निकट आना पड़ा।" व्यग्र राजुक अपने प्रश्न के अनौचित्य पर स्वयं आकुल हो उठा।

"फिर पूछो, अमोघवर्ष, क्या है तुम्हारी वह जिज्ञासा?" उपराजा अपने सहज गम्भीर मुख पर फिर हास लाने की चेष्टा करता हुआ बोला।

"मैं पंचनद-मालव के अवकाश का प्रयोजन जानने की इच्छा करता हूँ, श्रीमन्।" अमोघवर्ष धीरे से बोला।

"पंचनद-मालव का अवकाश-ग्रहण उसके व्यक्तिगत प्रयोजन से संपर्क रखता है, अमोघवर्ष, और तुम जानते हो कि वज्जि अथवा विदेशी नागरिकों के व्यक्तिगत कार्यों में संघ किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता।"

"परन्तु यदि विदेशी किसी अहितकर प्रयत्न में कार्यशील हो तो?" अमोघवर्ष ने वेग से पूछा।

"इस प्रकार के अहितकर कार्यों के संबंध में संघ के चर सदा संलग्न रहते हैं, अमोघवर्ष। संघ संतुष्ट होकर ही इस प्रकार के अवकाश विदेशियों को प्रदान करता है। तुम्हारा केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि संघ उस संबन्ध में संतुष्ट है।"

"तो क्या किसी प्रकार मैं यह नहीं जान सकता कि पंचाल-मालव कहाँ है?" अमोघवर्ष ने पूछा।

"किसी प्रकार नहीं। केवल एक ही व्यवस्था है जिससे यह संभव हो सकता था परन्तु वह तुम्हारे संबन्ध में अप्रासंगिक है।"

"वह कौनसी, श्रीमन् ?" अमोघवर्ष को तिनके का सहारा मिला।

"वह यह कि यदि तुम्हारा उसके द्वारा व्यक्तिगत अपकार हुआ हो तो तुम उसका अवकाश-प्रयोजन जान सकते हो, परन्तु उस दशा में अपने अपकार के निराकरण के अर्थ तुम्हें विनिश्चय महामात्रों' के सम्मुख निवेदन करना होगा।" गम्भीर उपराजा ने शक्तिपूर्वक कहा।

"अपकार-जनित भावना से प्रेरित होकर ही अमोघवर्ष वज्जि-संघ के उपराजा के निकट उपस्थित हुआ है, श्रीमन्।" कुछ संतोष की झलक सी राजुक के मुख पर दिखाई पड़ी।

"तो जानोगे, नागरिक, सुनो—पंचनद-मालव सुकंठ का अवकाश का प्रयोजन है प्रणय का व्यसन, एक सम्भ्रान्त नागरिका का आतिथ्य और उसका वर्त्तमान आश्रय है—वारांगना कामसेना के ग्रीष्म-प्रासाद का तृतीय प्रकोष्ठ।" आसन से उठते हुए उपराजा ने कहा।

जाते हुए अमोघवर्ष को रोकते हुए उपराजा ने उसे सावधान किया—नागरिक, निर्दोष विदेशी को अकारण क्लेश देना संघ की दृष्टि में अशान्ति का परिचायक है, और अशान्ति का दंड, तुम जानते हो, भयंकर है।"

अमोघवर्ष कुछ व्यथित-सा परन्तु शक्तिपूर्वक बोला—"श्रीमन्, संवज्जि-संघ का गणपूरक एवं राजुक नागरिक अमोघवर्ष अपना उत्तरदायित्व समझता है, धन्यवाद।"

"मिथ्या, नितान्त मिथ्या !"—अभी अमोघवर्ष की बात समाप्त भी न होने पाई थी कि मंत्रणा-कक्ष के पार्श्व का निभृत द्वार सहसा खुला और वज्जिसंघ के प्रमुख-लेखक ने प्रवेश

किया। उसके शब्दों से यकायक उपराजा चकित हो गया और अमोघवर्ष संत्रस्त।

प्रमुख-लेखक ने फिर कहा—मिथ्या! नितान्त मिथ्या! संवज्जि-संघ का गणपूरक एवं राजुक नागरिक अमोघवर्ष अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता और संवज्जि-संघ के प्रमुख-लेखक के अधिकार से मैं उसे संघ के कर्मचारियों को अनुचित रीति से कर्तव्यच्युत करने का दोषी घोषित करता हूँ।

"यह अपराध जघन्य है, प्रमुख-लेखक। इसका दंड शूली है।" कठोर आकृति धारणकर प्रशान्त मुद्रा से उपराजा बोला।

"श्रीमन्, प्रबल-प्रतापी संवज्जि-संघ के अद्भुत कार्यक्षम उपराजा के नीचे युगान्त तक कार्य करनेवाला लेखक इस जघन्य अपराध के दंड से अवगत न हो, यह आश्चर्य की बात होगी।" प्रमुख-लेखक ने दृढ़तापूर्वक कहा।

उपराजा निभृत द्वार से गुप्तकक्ष की ओर बढ़ता हुआ अमोघ-वर्ष के प्रति बोला—नागरिक, मेरी प्रतिक्षा करोगे।

विद्युत्हत अमोघवर्ष अवसन्न हो गया था। उसने मस्तक झुका लिया। प्रमुख-लेखक ने उपराजा का अनुसरण किया।

× × ×

कुछ क्षणों के उपरान्त उपराजा लौटा, अकेला, गम्भीर। अमोघवर्ष का मस्तक फिर झुक गया।

उपराजा ने प्रवेश करते ही कहा—नागरिक, तुम्हारा अप-राध सुना। उचित तो यह था कि इसी समय नागरिकता के अधिकारों से तुम्हें वंचितकर तुम्हारे जघन्य अपराध की सत्यता अप्रमाणित होने तक कारावास में डलवा देता, परन्तु संघ के प्रति तुम्हारी की गई सेवाओं का मूल्य बड़ा है। अतः मैं

स्वयं तुम्हारा प्रतिभू होता हूँ और इस विदेशी के प्रति तुम्हारे व्यवहारकार्य के अन्त तक तुमको मुक्त रखता हूँ। फिर तुम्हारा विचार संघ के अधिवेशन में होगा। जाओ।

अमोघ वर्ष का मस्तक और नत हो गया। उपराजा उसे वहीं छोड़ निभृत-द्वार से गुप्त-कक्ष में पुनः प्रविष्ट हुआ।

४

"तुम्हीं बोलो, कामसेने, अब मैं केवल सुनूँगा।"

"पर, क्यों ? वह जो तुम्हारा मालव वाग्विलास है उससे क्या छुट्टी ले लोगे ? बोलो तो, मालव, बोलो।"

"बोलूँ ? क्या बोलूँ ?"

"अरे वही,—सिन्धु का गर्जन, वितस्ता का निःश्वास, चन्द्रभागा का भृकुटि-भंग, रावी का ऊर्मिविलास, विपाशा का वैभव, शुतुद्रु का गौरव, गाओ न !"

"हाँ चलो, चलो कामसेने, चलो उस दूर देश को। उस पंचनद-मालव को चलें। आओ, उन क्षुद्रक-यौधेयों के शूर देश को चलें। यमुना को लाँघकर, मथुरा के विलासी शौरसेनों को पीछे छोड़ चलें—वहाँ, जहाँ क्षुद्रक-यौधेय और मालवों का संघट्ट अंधक-वृष्णियों से लोहा लेता है और जहाँ अरट्ट मध्यस्थ हो दोनों पक्षों के आघात सहते हैं। वहाँ चलो, सुमुखि, वहाँ..."

कामसेना विमुग्ध मालव का वाग्विन्यास सुनती रही। आनन्द से उसके होंठ फड़कने लगते, रोएँ खड़े हो जाते। वह मालव को प्रगल्भ कहती थी। कुतूहलवश वह उसकी अभिलाषा सुनती रही।

"जहाँ शुतुद्र तुम्हारी प्रतीक्षा में करवटें बदलता है, जहाँ वितस्ता तुम्हारे भय से उमड़-उमड़ रोती है, जहाँ चन्द्रभागा शुतुद्रु से मान किए बैठा है, जहाँ सिन्धु शुतुद्रु को ललकारता है, तुम्हारे निमित्त, इन कुंचित अलकों के निमित्त।" मालव ने कामसेना की अलकों को उछाल दिया।

"अरे, तुम रुक गए मालव? बोलो, हाँ, चलने दो वह वाग्धारा—फिर क्या होगा?"

मालव कामसेना के व्यंग्य से कुछ झेंप गया। उसे स्मरण हो आया कि वह उसे प्रगल्भ कहती है और वह अभी-अभी बहुत कुछ कह चुका। कामसेना उसकी ओर अब भी वैसे ही देख रही थी जैसे बालिका अपने खिलौने को देखती है।

"कब क्या होगा? मालव ने पूछा।

"वही, मैं पूछती हूँ—क्या होगा तब, जब शुतुद्र और सिन्धु में मेरे लिए युद्ध ठन जाएगा? तब क्या सिन्धु मुझे उदरस्थ कर लेगा? अथवा मैं शुतुद्र की लहरियों पर खेलूँगी?"

"अरे, नहीं, नहीं, कामसेने, सिन्धु कैसे तुम्हें उदरस्थ कर लेगा? अथवा शुतुद्र ही तुम्हें अपनी लहरियों पर क्योंकर उछालेगा? और मैं क्यों उछालने दूँगा? जब सिन्धु और शुतुद्र दोनों में युद्ध ठन जाएगा, मैं अपनी बाहुओं की दोला बना तुम्हें उन पर झुलाऊँगा—इस प्रकार।" हँसते हुए मालव ने कामसेना को झट अपनी भुजाओं पर उठा लिया और वह लगा उसे दोला की भाँति झुलाने।

"इस प्रकार, इस प्रकार···" मालव कहने लगा फिर वह लगा प्रकोष्ठ-पृष्ठ पर नाचने।

कामसेना जोर से हँस पड़ी। आकाश में सुदर्शन चन्द्र पूर्ण बिम्ब से मालव का यह कौतुक देख रहा था। प्रकोष्ठ के

पृष्ठ-तल पर सुरम्य कौमुदी छिटक रही थी। कामसेना के अंग अंग में गुदगुदी उठ रही थी। मालव की विशाल भुजाओं से धर्षित गणिका सुकंठ की शक्ति की तुलना अमोघवर्ष की ललित-कला-व्यंजक भावनाओं से करने लगी। दोनों में असाधारण वैषम्य था—एक में थी कामजनित तृप्ति, दूसरे में संतोष-जनित पीड़ा।

५

जब मालव को वज्जिराज्य के कर्मचारी ने 'विनिश्चय-महामात्रों' का लिखित आज्ञापत्र दिया, सुकंठ कुछ घबरा उठा। आज्ञापत्र में उसको कामसेना के साथ न्यायालय में उपस्थित होने का आदेश था। नागरिक अमोघवर्ष ने मालव के विरुद्ध उसकी प्रेयसी बलपूर्वक छीन लेने का अभियोग उपस्थित किया था। अमोघवर्ष को अपना अभियोग मालव के विरुद्ध प्रमाणित करना था और मालव को अपने को निरपराध सिद्ध करना था।

कामसेना ने मालव से कहा—सुग्रीव, तुम वज्जियों के नियम-व्यवहार नहीं जानते इसी कारण घबराते हो, इस अभियोग में कुछ भी नहीं रखा है।

मालव सर्वथा आश्वस्त था। केवल कभी-कभी उसे भय होता, कहीं कामसेना उसके हाथ से न निकल जाय। उसके सहचर अवश्य उसके अर्थ चिन्तित थे।

× × × ×

प्राड्विवाक ने अमोघवर्ष का पक्ष स्वीकार करने में आपत्ति की। उसने कहा—"जब तक कामसेना तुम्हारी ओर से वक्तव्य नहीं करती और मालव को अपने प्रासाद में रखती है,

इस बात को स्वीकार करना कठिन है कि मालव ने उसकी अनिच्छा से उसे शक्तिपूर्वक ले लिया है।" उसने मालव और कामसेना की ओर से न्यायालय में उपस्थित होने की स्वीकृति दे दी।

× × × ×

'विनिश्चय-महामात्र' अभियोग स्वीकार न कर सके। कामसेना ने स्वेच्छा से मालव को ग्रहण करना स्वीकार किया। उसने यह भी कहा कि वह अपना अधम व्यापार त्याग मालव का चिरसख्य ग्रहण करेगी, वज्जिराज्य छोड़ पंचनद-मालवों में जा बसेगी।

'विनिश्चिय-महामात्रों' ने मालव और कामसेना को अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की अनुमति दे दी। साथ ही उन्होंने विदेशी नागरिक और वज्जि नागरिका पर अकारण दोषारोपण करने का अमोघवर्ष पर अभियोग लगाया। अमोघवर्ष ने वज्जि-संघ के अधिवेशन तक अभियोग को स्थगित रखने की अनुमति माँगी। वज्जिसंघ की विशिष्ट नागरिक होने से राजुक को वह अनुमति मिल गई।

× × × ×

कामसेना के पंचाल जाने की बात सुन वज्जियों में कुहराम मच गया। कामसेना उनके विलास का उपकरण थी, व्यसन की विभूति, उनके रूप-गौरव की मर्यादा। विदेह नागरिकों का इस विषय में लिच्छवि नागरिकों से सर्वथा एकमत था। राजुक-सामन्त सभी इस बात को सुनकर व्यथित हो उठे। 'विनिश्चय-महामात्रों' के विरुद्ध एक आन्दोलन-सा खड़ा हो गया। उसे अमोघवर्ष ने और भड़का दिया। क्रान्ति-सी मच चली।

६

आज वैशाली में विशेष समारोह है। संवज्जि-संघ का आज ग्रीष्मान्त अधिवेशन है। इस अधिवेशन का कार्यक्रम दीर्घ है और संघ को बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना है। पावा के मल्लों पर कोसल के राजा प्रसेनजित ने आक्रमण किया है, मल्लों का दूत आया है। मगधराज की वैशाली पर आक्रमण की तैयारियों का पता चला है। राजुक अमोघवर्ष के मालव पर किए अभियोग की 'ज्ञप्ति' है। स्वयं राजुक अमोघवर्ष पर उपराजा का संघ की ओर से अभियोग है।

× × × ×

घंटों का शब्द सारे नगर को शब्दायमान करने लगा। यह संघ के राजुकों को संघ-भवन में एकत्र होने की सूचना थी। पूर्वाह्न के अन्त तक संघ-भवन राजुकों से भर गया और बाहर का सुविस्तृत मैदान वैशाली के नागरिकों से।

भवन के भीतर 'आसन-प्रज्ञापक' ने भद्रपीठों की परीक्षा की, फिर 'गणपूरक' ने राजुकों का एकत्रकर बैठाया। संघ का कार्य प्रारम्भ हुआ।

राजा ने उठकर अपने दक्षिण ओर के आसन पर बैठे मल्लों के दूत की ओर संकेतकर कहा—ये मल्ल-संघ के दूत हैं। इनके द्वारा मल्ल-संघ का यह पत्र आया है।

राजा ने अपने हाथ का पत्र पढ़ा—"वज्जि-संघ को मालव-संघ की स्वस्ति। कोसल ने मल्ल-भूमि पर आक्रमण किया है। ऐसे अवसर पर मल्ल-संघ ने गणतन्त्रों की स्वत्व-रक्षा के लिए युद्ध ठान दिया है। साम्राज्य जिस प्रकार नागरिकता को नष्ट कर व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का विध्वंस करते हैं वह वज्जि-संघ को

पूर्णतया विदित है। वास्तव में यह मल्ल-कोसल युद्ध नागरिकता और साम्राज्य का युद्ध है, स्वतन्त्रता और शक्ति का। साम्राज्य की प्रान्त-लोलुपता एवं प्रसर-लिप्सा वज्जि-संघ से छिपी नहीं है। यदि उसके विरुद्ध प्रयत्न न किया गया तो शीघ्र नागरिक जीवन का अन्त हो जायगा और इसका उत्तरदायित्व वज्जि-संघ पर भी कुछ कम न होगा। वज्जि-संघ से, वैशाली के एक लक्ष अड़सठ सहस्र नागरिकों से हमारी यह प्रार्थना है कि वह इस आपत्ति में हमारी सहायता करे। इसके साथ मल्ल-संघ भी घोषित करता है कि इस सहायता के बदले वज्जि-संघ जब जिस प्रकार की सहायता चाहेगा वह देगा। सुभमस्तु।"

राजा बैठ गया। भवन के राजुकों में खलबली मच गई।

एक राजुक ने उठकर पूछा—क्या संघ की ओर से इसके उत्तर में कोई 'ज्ञप्ति' है?

राजा ने उठकर कहा—'हाँ।' फिर उसने उपराज को 'ज्ञप्ति' और 'प्रतिज्ञा' प्रस्तुत करने का संकेत किया।

उपराजा ने उठकर कहा—सम्मानित संघ मेरी प्रार्थना सुने। यदि संघ इसके निमित्त उपयुक्त काल समझे तो सुने। यह 'ज्ञप्ति' है।

उपराजा चुप हो रहा। संघ मूक था।

उपराजा ने पुनः कहा—संघ मूक है, सो मैं समझता हूँ मेरी 'ज्ञप्ति' स्वीकृत हुई। सम्मानित संघ मेरी 'कर्म्मवाचा' सुने। यह मेरी 'प्रतिज्ञा' है—"मल्ल-संघ का पत्र वज्जि-संघ ने पढ़ा। वह मल्ल-संघ का प्रस्ताव स्वीकार करता है। साथ ही विचक्षण राजुक महत्तक को विशिष्ट दूत बना उसके द्वारा मल्ल-संघ को यह प्रार्थना भेजता है कि वह वज्जि-संघ के साथ मिलकर एकप्रबल मल्ल-वज्जिगण-तन्त्र स्थापित करे। इस गण में दोनों संघों के नौ नौ प्रतिनिधि हों। दोनों कोसल और मगध के प्रसर एवं

आक्रमण का सामना करें। बज्जि-सेनापति वैशाली के तीनों प्राकार-वेष्टनों पर शतघ्नियों को चढ़ाकर मूल की रक्षा का प्रबन्ध करे और वज्जियों की आधी सेना लेकर पावा की ओर कोसलों के विरुद्ध प्रस्थान करे। यह लिखकर मल्ल-संघ को प्रेषित किया जाय।" जो राजुक इस प्रतिज्ञा के विरोध में हो वह बोले, जो पक्ष में हो वह मूक रहे।

संघ मूक रहा।

उपराजा ने फिर 'प्रतिज्ञा' पढ़ी। संघ फिर चुप रहा। तृतीय बार पढ़ने के उपरान्त उपराजा ने कहा—तीन बार मैंने 'प्रतिज्ञा' पढ़ी, तीन बार संघ चुप रहा। मैं समझता हूँ संघ ने इसे स्वीकृत किया। संघ फिर चुप रहा।

प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

राजुक अमोघवर्ष ने 'ज्ञप्ति' की। वह स्वीकृत हुई। उसने अपनी प्रतिज्ञा रखी—"सम्मानित संघ मेरी 'कम्मवाचा' सुने। यह मेरी 'प्रतिज्ञा' है—एक विदेशी सुकंठ नामक मालव ने एक बज्जि-नागरिक से उसकी प्रेयसी छीन ली है। संघ उसका विचार करे।" जो विरोध में हो बोले जो पक्ष में हो चुप रहे।

राजा ने आपत्ति में पूछा—क्या इस विषय पर 'विनिश्चय-महामात्रों' का निर्णय नहीं हो चुका है?

प्रस्तावक बोला—हो चुका है। 'पवेनि-पुत्थकों' में उसका उल्लेख भी हो चुका है।

"तब संघ इस प्रश्न पर विचार नहीं कर सकता। यदि अभियुक्त उस निर्णय से सन्तुष्ट नहीं तो वह 'व्यवहारिकों' के निकट प्रार्थना करे। वहाँ से वह 'सूत्रधारों' अथवा वहाँ से भी 'अष्टकुलकों' के निकट निवेदन कर सकता है। संघ में यह 'कम्मवाचा' अव्यवस्थित है।" राजा ने कहा।

"परन्तु क्या 'राजुक' के सम्बन्ध में भी संघ का यही निर्णय होगा ?" अमोघवर्ष ने पूछा।

"निस्सन्देह, क्योंकि वज्जि-संघ व्यवहार के अधिकारों में 'नागरिक' और 'राजुक' में भेद नहीं करता।" राजा ने शक्ति-पूर्वक कहा।

संघ चुप था। राजुक अमोघवर्ष की 'प्रतिज्ञा' गिर गई।

उपराजा ने उठकर 'ज्ञप्ति' की। संघ ने उसे स्वीकार किया। उसने 'प्रतिज्ञा' प्रस्तुत की—सम्मानित संघ मेरी 'प्रतिज्ञा' सुने। यह मेरी प्रतिज्ञा है—"वैशाली के राजुक गणपूरक अमोघवर्ष ने संवज्जि-संघ के प्रमुख-लेखक को स्नेह, धमकी और दानविधि से कर्तव्यच्युत करने का प्रयत्न किया। संघ उस पर विचार करे।" जो विरोध में हो बोले, जो पक्ष में हो चुप रहे।

राजुक अमोघवर्ष ने संकेत किया। कई राजुक उठे।

एक ने विरोध करते हुए 'प्रतिज्ञा' की कि यह कार्य एक उप-समिति को सौंपा जाय। राजा और उपराजा ने इस पर आपत्ति की। मत लेने की आवश्यकता पड़ी। अमोघवर्ष के एक दूसरे मित्र ने प्रस्ताव किया कि मुख्य प्रतिज्ञा संघ के उपराजा की है, अतः सम्भव है कुछ राजुक भय से उसका साथ दे दें। न्यायपूर्ण निर्णय के अर्थ 'छन्द' शलाकाओं से लिये जाएँ। तब गुह्य 'छन्द' के अर्थ उसी राजुक ने प्रस्ताव किया कि राजुक अनंग 'शलाका-ग्राहक' नियुक्त हों। राजुक अनंग 'शलाका-ग्राहक' हुए। 'छन्द' लिए जाने पर उपसमिति के पक्ष में बहुमति सिद्ध हुई। संघ ने उपसमिति का निर्माण कर राजुक अमोघवर्ष के अभियोग का विचार-कार्य उसे दे दिया।

वज्जि-संघ का दूत मल्ल-संघ को चला।

७

कामसेना के आचरण ने वैशाली में उथल-पुथल मचा दी थी। राजुक अमोघवर्ष पर लगाये अभियोग ने अग्नि में घी डाल दिया। उसने स्वयं उसे हवा दे देकर भड़काया।

× × × ×

इधर एक विचित्र घटना घटी। पंचनद की ओर जाते हुए सुकंठ और कामसेना को मल्लों के विशाल पावा पथ पर अमोघवर्ष ने दुर्द्धर्ष आटविकों की सहायता से लूट लिया। कामसेना की रक्षा में व्यस्त मालव मारा गया। कामसेना ने उसी समय आत्महत्या कर ली। लूट के रत्न और धन की प्राप्ति के पथ में अमोघवर्ष को कंटक जान आटविकों ने उसे भी मार डाला।

वैशाली में कुहराम मच गया। चारों ओर समाचार फैल गया कि मल्लों ने पावा पथ पर मालव, कामसेना और अमोघवर्ष को मारकर उनका धन लूट लिया है। कहाँ से यह संवाद उठा यह किसी को ज्ञात नहीं, परन्तु किसी अनजाने आधार से उठ उठ कर संवाद वैशाली के कोने कोने में गूँज उठते और वज्जि-संघ का वातावरण, क्षोभ और क्रोध, ईर्ष्या और हिंसा की अग्नि से जल उठता।

यह समय वज्जि-संघ के बड़े संकट का था। संघ के अधिवेशनों में नित्य वादविवाद चलते, नित्य दाह और झगड़ों की नौबत आती। संघ की दुर्भेद्य दीवारें टूट-सी गईं, सारे गोपनीय भेद खुल पड़े। राजुक राजुक का शत्रु हो गया। वज्जि-संघ में किसी ने प्रस्ताव किया कि मल्लों ने ही अमोघवर्ष और कामसेना जैसे वज्जि नागरिकों को और मालव सरीखे अतिथियों

को मारा है अतः उन पर वज्जि-संघ आक्रमण करे। 'प्रतिज्ञा' बहुमति से स्वीकृत हो गई। सेनापति को मल्लों पर आक्रमण करने की आज्ञा मिल गई। मल्ल-वज्जि-गण नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

× × × ×

युद्ध ठन गया। विचित्र युद्ध—तीन मोरचों वाला। इसी समय अजातशत्रु ने वैशाली पर आक्रमण किया सो एक मोरचा गंगा के उस पार गंगा-शोण के संगम पर था दूसरा मल्लों से पश्चिम की ओर चल रहा था। उधर मल्लों पर भी गहरा संकट था। पूर्व की ओर से लिच्छवि-विदेहों का आक्रमण था, दूसरी ओर कोसल की चोट। दोनों संघ-राज्य छिन्न-भिन्न हो रहे थे। दोनों साम्राज्य सोल्लास चोटें कर रहे थे।

× × × ×

वज्जि-संघ के मागध मोरचे पर संघ का वयोवृद्ध सेनापति गंगा के उस पार डेरा डाले पड़ा था। दिन-रात युद्ध का ताँता लगा रहता। दोनों ओर के चर बराबर शत्रु-पक्ष में भेद डालते, समाचार जानने के निमित्त छिप-छिप कर चक्कर काटा करते।

× × × ×

संध्या का समय था। पश्चिम आकाश रक्त उगल रहा था। गंगा-शोण-संगम पर प्रलयंकर समर का वेग संध्या के कारण अभी अभी थमा था। वज्जि-संघ के सेनापति का शिविर सामन्तों से भर रहा था। इसी समय एक घायल मागध दौड़ता हुआ आकर सेनापति के चरणों में गिर पड़ा। बाणों से उसका तन छिद गया था।

वह मागध नहीं था।

उसने स्वयं कहा—श्रीमन्, यह युद्ध वंचक है, मल्लों से समर अनुचित, अकारण है।

सामन्तों के साथ ही सेनापति की मुद्रा गम्भीर हो उठी। उसने पूछा—मागध, तू यहाँ किस साहस से आया ?

आहत ने कहा—श्रीमन् मैं मागध नहीं हूँ। मैं हूँ वज्जि-संघ का चराध्यक्ष—विद्युत्।

आश्चर्य से सब चकित रह गए। सेनापति ने देखा विद्युत् के शरीर से रक्त प्रवाहित हो रहा है।

वह मागधों का बन्दी था, बन्धन से निकल भागा था। सेनापति ने उसका अन्त निकट जान पूछा—'क्या संवाद है'? फिर शीघ्र वैद्य को बुला भेजा।

विद्युत् केवल इतना कह सका—मैंने राजगृह की मंत्रणा में सब सुना। सुना—"सुकंठ मालव मगधराज का संभेदक चर था।"

वह कौन था ?

[प्रस्तुत कहानी की भूमि सामाजिक क्रान्ति का क्रीड़ा-क्षेत्र है—क्रान्तिकारी एक राजन्य परिव्राजक। उसके जीवन का आरम्भ सत्य की खोज से, मध्य उसकी प्राप्ति से, और अन्त उसके दान से होता है। सारा एक अटूट संवेग प्रवाह है। प्रेम और सहानुभूति परिव्राजक के संबल हैं, दया और अहिंसा उसके साधन, संप्राप्ति और विसर्जन उसके उद्देश्य।

२१—८—४०]   [मध्याह्न ११—२—३०

—वह कौन था ?

× × × ×

राप्ती, रोहिणी के मध्य फूली लुम्बिनी चमक उठी। देवदह के मार्ग में माया खड़ी थी, शालभंजिका की मुद्रा से। लुम्बिनी अघा गई, शाल फूल उठा।

सद्यःजात ने सप्त-पग लिए, पग पग पर पुंडरीक हँसा। शक्र ने उसे उठा लिया, कल्पतरुओं के कुसुमजाल पर। देवों ने मन्दारस्तबकों से चमर झला। सद्यःजात हँसा।

× × × ×

प्रजापती ने माया का अनुराग दिया।

असित-नारद झुके, असित भी, नारद भी—पिता के आशीर्वाद को, तनय के अभिवादन को।

"बत्तीस लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन—सार्वभौम !"

शुद्धोदन पुलकित हो उठे। असित शंसित था, नारद प्रसन्न।

"सार्वभौम ?" शाक्य-राज ने पूछा। स्वर में मोद था, हृदय में उल्लास।

"सार्वभौम सम्राट्"—असित हँसा।

भागिनेय नारद हँसा, विश्वामित्र, राजा, सभासद हँसे।

"सार्वभौम परिव्राजक"—असित फिर हँसा।

भागिनेय फिर हँसा, विश्वामित्र मूक हो रहा, राजा जिज्ञासु, सभासद मूढ़।

"भागिनेय, तू भाग्यवान है, सुनेगा। मैं हूँ अभागा—अ-सित"—असित रो पड़ा।

असित के साथ जाते हुए उसके भागिनेय नारद को राजा ने रोक लिया।

× × × ×

वेदना का सहचर था वह कुमार—सहानुभावी।

सुख में सब दूर थे, परन्तु दुख में वह साथ था—सबके।

वेदना से रोते हुओं के आँसुओं से उसके आँसू मिले।

क्षणिक सुख उसे रिझा न सका। तृष्णा हँसी पर स्वयं लजा गई।

उसे पाना था जीवों का एकाकी सुख—एकाकी, द्वन्द्वचक्र से रहित।

× × × ×

वह बैठा था।

वह बैठा था, संतप्त व्यथित। कुछ देर पूर्व वह आ बैठा था स्वच्छ पुष्करिणी के सोपान-मार्ग पर। हिलती हुई लहरियों पर उसके किरीट की छाया हिल रही थी, झुक, झुक। छाया लहरियों पर उछलती, झुकती। लहरियाँ बढ़ कर फैल जातीं, समीप के पद्म-पत्रों की छाया में खो जातीं, उनके हिलते नालों के मध्य। उन्हीं पत्रों पर दृष्टि स्थिर-सी हो गई थी। उनमें से एक का विस्तार-छत्र बड़ा था। उसका एक भाग कुछ उठा-सा था।

वायु का एक हल्का, कुछ दृढ़तर, झोंका आया। पद्म-पत्र के उठे भाग से कुछ जल में गिरा—भुरभुर। किरीट-मंडित मस्तक कुछ आगे झुका—आगे, उस पद्म-पत्र के उठे किंचित्

पीत भाग पर। नीलाम्बुज-श्याम विशाल नेत्रों ने देखा—एक विशाल विश्व की संसृति, सुना—एक विस्तृत ब्रह्मांड का परुष कोलाहल, सृष्टि के प्रजनन, प्रसार, प्रलय की झंकृति—असंख्य कृमि अपनी कुटिल काया विस्तृत-संकुचित करते उमड़ रहे थे। नीचे के मात्स्य-न्याय का ऊपर प्रतिबिम्ब था। एक अपेक्षाकृत विशाल कृमि उस संघट्ट के बीच उलट रहा था।

किरीटमण्डित-मस्तक फिर गया—घृणा से, व्यथित।

वह बैठा था संतप्त, व्यथित।

उसने कहा—क्या यहाँ भी ? स्रष्टा के सूर्यरूपी खुलती हुई दृष्टि के नीचे ही ?

उसने उदय होते सूर्य की ओर से दृष्टि फेर जल में डाली—वहाँ जीवों का कोलाहल सुना, धर्षण का वेग देखा। अपनी भीतर उसने दृष्टि घुमाई—

"क्या वहाँ भी वही कोलाहल है, वही धर्षण ?" उसने पूछा।

निस्तब्ध वह बैठा था, नीरव, संतप्त व्यथित। चिबुक वक्ष पर टिका था। बाहर समुद्र शान्त था, प्रशान्त, परन्तु भीतर भयंकर कोलाहल था।

समीप के बाल-कदली पर शब्द हुआ। कुमार ने मस्तक उठाया—कदली-पत्र और यष्टि की सन्धि पर बाणविद्ध क्रौंच तड़प रहा था। कुमार के नेत्र चमके, फैल गये।

वह उठा। उसने क्रौंच को उठा लिया। धीरे से बाण खींच उसने पुष्करिणी का जल उस पर डाला। क्रौंच पंख फड़फड़ा उठा। वेदना से उसने अपने नेत्र बन्द कर लिए। कुमार की आँखें भी मुँद गईं। सहवेदना से उसका हृदय टूक टूक हो गया। क्रौंच हाथ में फड़का। कुमार के नेत्रों में जल भरा था।

निकट की छाया देख उसने दृष्टि उठाई—दृष्टि-पथ में आखेटक की मूर्ति आ अटकी। आगन्तुक के सुपुष्ट वामस्कन्ध के ऊपर, पृष्ठभाग में, तूणीर के मुख से कंकपत्र झाँक रहे थे। प्रत्यंचा चढ़ा धनुष उसी स्कंध से लटक रहा था, दाहिने कर के बाण की नोक अँगुलियाँ चापत कर रही थीं। वक्ष का छोटा-सा पुष्पहार अभी कुछ ही धूमिल हुआ था।

आखेटक की मूर्ति मानवी थी, देवदत्त की। प्रसन्न, श्रमित, तुष्ट।

कुमार ने घृणा से दृष्टि फेर ली।

देवदत्त बोला—कुमार, क्रौंच मेरा है।

कुमार ने फिर दृष्टि उठाई।

वह बोला—लुब्धक! किरात!

"विश्वामित्र-कुलपति के अनुसार ये शब्द सभ्य नहीं, कुमार। शाक्य-कुमार के सर्वथा अयोग्य।" देवदत्त विहँस कर बोला।

कुमार ने फिर अपनी दृष्टि तड़पते क्रौंच पर डाली। फिर जल की कुछ बूँदें उसके नेत्रों पर डालीं, कुछ उसकी चंचु में।

देवदत्त ने फिर कहा—कुमार, क्रौंच मेरा है।

कुमार ने अपने प्रशस्त ललाट से स्वेद-नीहारिकाओं को पोंछ लिया।

देवदत्त ने कुछ सस्वर कहा—कुमार! क्रौंच मेरा है।

कुमार के होंठ फड़के, शब्द हुआ—मृत क्रौंच तेरा, जीवित मेरा।

उसने दृष्टि फिर क्रौंच पर डाली। रक्त का प्रवाह बन्द हो चला था। परन्तु पूर्व का निकला रक्त उसके करके जल से मिल कर नखों को लाल कर रहा था। उसने दूसरे कर में क्रौंच को ले अपने नख धो लिए।

देवदत्त कुमार की शान्ति से जल उठा।

उसने तीव्र स्वर में पुकारा—कुमार !

कुमार ने सवेग उसकी ओर दृष्टि फेरी। पूछा—क्या ?

"दे दो मेरा क्रौंच"—क्रोध से आरक्त देवदत्त जल उठा।

"यम से माँग अपना क्रौंच, देवदत्त।" कुमार ने सवेग उत्तर दिया।

"मैं ले लूँगा।" देवदत्त अड़ गया।

"ले ले, यदि शक्ति है"। कुमार ने ललकारा।

देवदत्त उसकी ओर बढ़ा।

कुमार सरोष उसकी ओर घूम पड़ा। साथ ही कदली के झुरमुट में शब्द हुआ और तीन सशस्त्र सैनिक कुमार के निकट आ खड़े हुए। ये शुद्धोदन द्वारा नियुक्त कुमार के रक्षक थे जो उसके अनजाने सदा साथ लगे रहते थे। देवदत्त सहम गया।

वह सभा-भवन की ओर चला। कुमार ने उसका अनुसरण किया।

वेत्रधर ने सस्वर सूचित किया—कुमार देवदत्त, कुमार गौतम।

उसका शब्द अभी गूँज रहा था जब देवदत्त ने प्रवेश किया। कुमार उसके पीछे था, क्रौंच को हृदय से लगाए।

प्रवेश करते ही देवदत्त ने सभा में न्याय-याचना की।

राजा ने पूछा—क्रौंच किसने मारा ?

प्रसन्न देवदत्त बोल उठा—मैंने।

कुमार स्थिर, गम्भीर स्वर में बोला—जिलाया मैंने।

सभा निस्तब्ध थी।

कुमार ने पूछा—क्रौंच मारने वाले का या जिलाने वाले का ?

सभ्य निःशब्द थे। कुमार के शब्द देर तक सभा-भवन में गूँजते रहे।

× × ×

कुलपति के आश्रम में उपनीत कुमार ने पढ़े—कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा, चारों वेद।

उसके हृदय को शान्ति न मिली। न उसकी जिज्ञासा को उत्तर मिला।

"मनुष्य—जीव—दुखी क्यों ?" उसने पूछा। ग्रन्थों से उसको उत्तर न मिला। तर्क ने तृप्ति न दी। विद्या निरर्थक सिद्ध हुई। जिस ज्ञान में व्याधियों का शासन नहीं, जरा-मरण का अन्त नहीं उससे लाभ क्या ? उसने तपोवन छोड़ दिया। उसका समावर्तन हुआ।

पिता ने अनुनय की। विरागी गृहस्थ बना—मातुल-कन्या यशोधरा देवदह से आई, शृंगार का मद लिए, सौन्दर्य की शक्ति लिए, यौवन का आसव लिए।

न जीत सकी। शृंगार-बेलि मुरझा गई, सौन्दर्य शृंगार के अवलम्ब बिना निर्बल हो गया, यौवन अकेला बावला हो गया। कुमार बना रहा—एक रस, जिज्ञासु, अधीर, आमोद-प्रमोद से दूर, संयत।

× × ×

उसे जाना था, उस अट्ठाइस वर्ष के युवा को।

प्रबन्ध पूरा हो चुका था, शक्ति दृढ़ थी।

यकायक कपिलवस्तु के विपुल घंटे बज उठे। तूर्य और दुन्दुभियों के नाद से नगर व्याप्त हो उठा, शंखध्वनि से गगन गुंजायमान।

दासी ने उल्लास भरे शब्दों में कहा—शुभ हुआ—तनय।

सशंक युवा बोला—अशुभ हुआ—राहुल ।

व्यंग्य आदेश हुआ—शुद्धोदन ने सद्य:जात को पुलकित हो पुकारा—राहुल !

× × ×

वह चला । चलते हुए उसने एक बार शयन-कक्ष में झाँका दासियाँ सखियाँ, जहाँ तहाँ पड़ी थीं । उनके वस्त्र खुले थे—अस्त-व्यस्त । बलती दीप-शिखा-सी सोती थी—वह कोलिय दंडपाणि की गोपा, कपिलवस्तु के शाक्य-प्रासाद की कौमुदी यशोधरा, शिशु के मस्तक पर अभय का हाथ रखे, अपने आराध्यदेव को स्वप्न में सोचती, रोकती ।

स्वजन न रुका ।

मार्तंड सरीखा शिशु एक बार जनक के अन्तर में चमका । उसने उसे खींचा—सहस्र करों से ।

न रुका स्वजन ।

संसार का स्वजन चल पड़ा—रोते विश्व के आँसू पोंछने ।

यह महाभिनिष्क्रमण था ।

कपिलवस्तु जागा ।

महामणि खो चुकी थी ।

× × ×

कोलिय छूट गए, पावा भी छूटी । अनामा के पार महायात्री ने खड्ग से अपनी लम्बी शिखा काट ली, घुँघराले केश भी न रहे । छन्दक के वस्त्रों के भाग्य फिरे । रत्नमय वस्त्राभूषण कर में लिए छन्दक देखता रहा । और कंथक ?

वह भी देखता रहा, जब तक उसका स्वामी वैशाली राज्य की सीमा के उपवनों में न खो गया ।

× × ×

अलार कालाम के तपोवन में तीन सौ ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे। उपनिषद् और दर्शन मँज गए परन्तु जिज्ञासा जगी रही। आकिंचायतन धर्म में मानुषिक क्लेशों के शमन का उत्तर न था।

सुख की खोज में यात्री फिर चल पड़ा—राजगृह की ओर—प्रकांड दार्शनिक उद्दक रामपुत्त के निकट।

गरिव्रज के भग्नस्तूप पर बिम्बिसार का बसाया राजगृह खड़ा था, गौरव से मस्तक उठाए।

यात्री उधर से निकला जिधर मागध शैशुनाग—श्रेणिक बिम्बसार—उसके तेजस्वी मुख-मंडल को देख चकित रह गया। उसने सारा मगध उसके चरणों में रख दिया।

यात्री हँस पड़ा।

"शाक्यों का राज्यविस्तार विलास के अर्थ प्रचुर है, राजन्, और पिता के स्नेह का राज्य उससे कहीं विस्तृत है, और यशोधरा के स्वप्न का उससे भी।" वह बोला—पूर्ववत् हँसता हुआ।

श्रेणिक ने मस्तक झुका लिया।

यात्री फिर चल पड़ा।

× × ×

प्रातः याग के समय जब वह उद्दक रामपुत्त के आश्रम में पहुँचा सप्तशत दीक्षितों के कंठों से विनिर्गत ब्रह्मघोष वन-प्रान्त को कम्पायमान कर रहा था। वह भी दीक्षित हुआ।

जिज्ञासा बनी रही। उसके उद्विग्न हृदय में उठते प्रश्नों का उत्तर उद्दक के पास न था।

वह बोला—श्रद्धा, वीर्य, समाधि और स्मृति प्राप्त कर चुका। परन्तु इनसे निर्वाण की शान्ति न मिल सकेगी। मैं करूँगा प्रज्ञा से साक्षात्कार।

महापथ पर वह चल पड़ा।

इस बार वह अकेला न था। पाँच और ब्रह्मचारी—पंच भद्रवर्गीय—भी उसके साथ चले।

कहाँ ?

कहीं—जहाँ वह घोर तप कर सके।

× × ×

वह राजगृह की ओर से खड़ी पर्वतश्रेणी लाँघकर उस पार उतर गया—गया के महाकान्तार में।

निरंजना के तट पर यात्री रुका।

घोर तप प्रारंभ हुआ। षड्वर्षों तक यह तप चलता रहा। काया क्षीण हो गई, आकार मूर्तिवत् अवसन्न हो रहा। शरीर-पंजर कंकालमात्र रह गया। चेतना नष्ट हो गई।

उरुबिल्व की नर्तकियाँ नाचीं।

उन्होंने गाया—"वीणा के तारों को ढीला न करो—नहीं वे न बजेंगे, और देखो, उन्हें अधिक न कसो—नहीं वे टूट जाएँगे।"

ध्वनि रोम-रोम में झंकृत हो उठी—"वीणा के तारों को ढीला न करो—नहीं वे न बजेंगे। और देखो, उन्हें अधिक न कसो—नहीं वे टूट जाएँगे।"

तप छूट गया। भोजन के साधन में वह चला। निरंजना में स्नानकर वह वृक्ष के नीचे आसन मार बैठा। श्रेष्ठिकन्या ने उसके विस्मयजनक मुख को देखा। उसे वृक्ष का देवता जान सुजाता ने खीर खिला दी। पंच-भद्रवर्गीय पेटू-परिव्राजक को छोड़ चले—पश्चिम, वाराणसी के निकट मृगदाव को।

× × × ×

एक दिन वह अश्वत्थ के नीचे विचारमग्न हो बैठा। तृष्णा,

विलास, व्यसनों ने प्रचंड आक्रमण किया। वह विचलित न हुआ। मार भी अपनी सेना-सहित पहुँचा—उसकी कन्याएँ—तृष्णा, आरति, रति—भी असफल रहीं। उसने पृथ्वी का स्पर्श कर उसे साक्षी बनाया—मार विजय की, उरुबिल्व के निकट। महाबोधि के नीचे उसने प्राप्त की—सम्यक् सम्बोधि।

आषाढ़ की पूर्णिमा थी। जब मार के मेघ छँट गए उसने स्पष्ट देखा—आर्य सत्य, अष्टांगिकमार्ग—और इनके ऊपर—मज्झिम पटिपदा—मध्यम मार्ग—वीणा के वे तार जो न बहुत खिंचे हों न बहुत ढीले, न उनके टूटने का भय हो न बजने में शंका।

बुद्ध ने पाया, अब वह देगा।

चला वह पंच-भद्रवर्गीयों की खोज में मृगदाव।

× × × ×

उसे आता देख एक ने कहा—भिक्षु आता है, हम उसे प्रणाम न करें, उसका कमंडलु न लें, उसको आसन न दें।

भिक्षु पहुँचा। उसका देदीप्यमान मुख आकर्षक था। विस्मित ब्रह्मचारी खिंच गए। किसी ने कमंडलु लिया, किसी ने आसन दिया। सबने अभिवादन किया।

उसने कहा—मैं हूँ सम्यक् समबुद्ध।

उसने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया—भिक्खुओ, मार्ग दो हैं—अत्यन्त विलास का, अत्यन्त तप का। एक तीसरा मार्ग है तथागत का देखा—मध्य का, न अत्यन्त विलास का, न अत्यन्त तप का।"

× × × ×

भिक्षु संप्रदाय जन्मा, संघ पनपा।

सारिपुत्त, मोग्गलान आए।

उसने कहा—भिक्खुओ, सत्य का विस्तार करो, एक एक पृथक प्रदेश में जाकर।

× × × ×

कपिलवस्तु का निमंत्रण ग्रहणकर संघ वहाँ पहुँचा न्यग्रोध-कानन में।

प्रातः वह भिक्षा-पात्र लेकर नगर के राजमार्ग पर निकल पड़ा। शाक्यराज दौड़े। दिव्यमूर्ति देख मस्तक झुक गया, स्वतः, अप्रयास। ग्लानि हुई—

पूछा—यह क्या पुत्र, पिता के राज्य में पुत्र की भिक्षा ?

"राजन् , तुम राजाओं के वंशधर हो, मैं भिक्षुओं का।" उत्तर मिला।

स्तम्भित राजा ने जाना वह उसका पुत्र नहीं, विश्व का जनक है।

सारा कपिलवस्तु टूट पड़ा। यशोधरा नहीं आई। वह अड़ गई—साध्वी का स्वामी उसके घर आएगा। वह क्या जाने सम्बोधि, क्या जाने प्रव्रज्या—उसका तो वही, आर्यपुत्र, कुमार।

वह वहाँ पहुँचा—यशोधरा के भवन में—सारिपुत्त, मोग्गलान के साथ।

उसने भिक्षापात्र बढ़ा दिया।

यशोधरा रोई, फिर हँसी—

बोली—अवश्य। भिक्षा दूँगी, सर्वश्रेष्ठ वस्तु, सर्वप्रिय।

उसने राहुल को उठाकर भिक्षा के लिए बढ़े करों में दे दिया।

अजन्ता के दरी गृहों में उस दृश्य की छाया पड़ी।

× × ×

राहुल ने पैतृक माँगा—भिक्खु, मुझे पितृदाय दो।

उसने कहा—सारिपुत्त, राहुल को प्रव्रज्या दो।

× × ×

वह मार्ग में चला जा रहा था—विकट वनमार्ग में। अंगुलिमाल ने कहा—ठहर जा।

वह रुका। लौटकर वह हँस पड़ा।

उसने कहा—मैं तो ठहर गया। सम्बोधि के आगे मार्ग नहीं, पर तू कब ठहरेगा?

अंगुलिमाल चकित हो गया।

× × ×

अनन्त-मार्ग का पथिक, वह फिर चल पड़ा। आगे भेड़ों का झुण्ड चला जा रहा था। उसने लँगड़ाते हुए मेमने को देखा। उसका दयार्द्र चित्त रो पड़ा। उसने उसे कंधे पर उठा लिया। गड़रिया हँसा।

महात्मा ने पूछा—मूक प्राणियों पर दया न करके भी कोई मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है?

"महात्मन्, मैं धर्म क्या जानूँ।" गड़रिया बोला—"मैं हँसा इस पर कि आप जो मेमने के तनिक क्षत पर इतने कातर हो उठते हैं उसको महाराज अजातशत्रु के प्रज्वलित अग्निकुण्ड से क्योंकर बचा सकेंगे? वह तो उनकी मुक्ति का साधन होगा।"

महात्मा रो पड़ा—ऐं! एक प्राणी का वध दूसरे का मोक्ष-साधक हो!

वह जा पहुँचा कुणिक की यज्ञशाला में। वहाँ सहस्रों पशु बलि के निमित्त बँधे खड़े थे।

उसने राजा से पूछा—यह कैसा पशु-समारोह है, राजन्?

"यज्ञ सुकर्म, मोक्षसाधक है"—उत्तर मिला।

"यदि प्राणि-वध ही मोक्ष का साधक है, राजन्, तो इस संबुद्ध श्रमण की यज्ञाहुति करो। मूक प्राणियों के वध से क्या प्रयोजन ?"

राजा वह निर्भीक तेजस्वी मुखमंडल देखता रह गया।

महात्मा ने एक सूखा तृण उसके सम्मुख फेंककर कहा—राजन्, इसे तोड़ो तो सही ?

राजा ने उसे चुटकी के कम्पनमात्र से तोड़ दिया।

फिर भिक्षु ने कहा—अनन्त समृद्धि के स्वामी, अब तनिक इन टुकड़ों को जोड़ो तो।

राजा भिक्षु का मुँह देखने लगा।

महात्मा ने फिर कहा—जिसमें एक क्षुद्र तृण को जोड़ने की सामर्थ्य नहीं उसे असंख्य प्राणियों के विनाश का क्या अधिकार है ? राजन्, यज्ञ भ्रान्ति है, रक्तपात। इसे छोड़ो निर्वाण-सुख की लालसा करो ?

× × ×

वैशाली के आम्रकानन में संघ ठहरा था। अम्बपाली का था वह आम्रकानन। जब उसने भिक्षु को भोजन के लिए निमंत्रित किया उसने स्वीकृति दे दी। अम्बपाली प्रसन्न हो घर को लौटी। भिक्षु को निमन्त्रित करने जाते हुए लिच्छवियों के रथों से सटाकर अम्बपाली ने अपना रथ हाँका। गणिका की इस धृष्टता पर वे झुँझला उठे पर गणिका का निमंत्रण संघ ने स्वीकृत कर लिया था।

जब लिच्छवी-राजा निकट आए भिक्षु ने कहा—जिन भिक्खुओं ने तावतिंश स्वर्ग के देवताओं को नहीं देखा है वे लिच्छवियों की इस परिषद् को देखें, इससे देवताओं की परिषद् का अनुमान करें।

लिच्छवी-देवताओं का गौरव गणिका के सम्मुख हार गया।

× × ×

कुशीनारा के शाल-वन में भिक्षु पड़ा था—थका हुआ वह अद्भुत यात्री।

आनन्द ने कहा—प्रभु देह न त्यागें, संघ अभी निर्बल है।

भिक्षु बोला—आनन्द, भिक्खु-संघ अब मुझसे क्या आशा करता है? मैंने तो अन्य आचार्यों की भाँति कोई रहस्य छिपा नहीं रखा—जो पाया उसे मुट्ठी खोल कर दिया। अब संघ मेरे उपदेशों पर चले।

जीवक—राजगृह का धन्वन्तरि—विमन बैठा था।

दूर दिगन्त में रह-रहकर प्रतिध्वनि उठ रही थी—

बुद्धं सरणं गच्छामि।
धम्मं सरणं गच्छामि।
संघं सरणं गच्छामि।

निसर्ग रोता था, पशु-मानव, केहरि-कुरंग। चराचर की कपालमणि छिन रही थी। संघ के सिद्ध और उपासक, भिक्षु और भिक्षुणी सभी रोते थे, कह कह, गुन गुन। आज वाचालों की जिह्वा ऐंठ रही थी, चेतनों की मति कुंठित हो रही थी। मानवता का वह विशाल हृदय नीरव, स्पन्दनहीन हो चला था।

भिक्षु श्रमित था—महापरिनिर्वाण के अनन्त पथ पर आरूढ़। उसने नेत्र बन्द कर लिए।

वह कौन था?

विलासी

[इस कहानी का नायक भारतीय रोमांचक साहित्य का केन्द्र उदयन है। उसके प्रणय और विलास की कथा एक समय भारतीय विलासियों के गर्व की वस्तु थी। उदयन की प्रणय-क्रीड़ा संस्कृत की साहित्यिक विभूति-सी हो गई थी। महाकवि भास ने उसे प्रणय-क्षेत्र में आदर्श मान लिया था और वह इस नृपति के चरित्र से इतना आकर्षित हुआ कि उसने अपने नाटकों में से दो का कथा-भाग उसके ही जीवन से लिया। 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' दोनों का संपर्क उदयन से है। कालिदास ने भी मेघदूत—'उदयनकथाकोविद-ग्रामवृद्धान्'—में इस नृपति के प्रणय की ओर संकेत किया है। उसकी कहानियाँ गोष्ठियों में कोविद वृद्ध कहते थे जिन्हें नवयुवक प्रेम और उत्सुकता से सुनते थे। उदयन की कथा गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' में और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' के लावाणक नामक तृतीय लम्बक की दो तरंगों में वर्णित है। उदयन हाथियों से बड़ा प्रेम करता था और वीणा बजाने में अद्वितीय था। उसे वीणा बजा कर गजों को पकड़ने का व्यसन था। इस व्यसन के कारण ही उसकी वीणा का नाम 'हस्तिकान्त'

पड़ गया था। उस समय गणतंत्रों के अतिरिक्त भारतवर्ष में चार प्रमुख राज्य थे—(१) अजातशत्रु का मगध (राजगृह) (२) प्रसेनजित का कोसल (श्रावस्ती), (३) उदयन का वत्स (भरतवंश-कोशाम्बी), और (४) चंड प्रद्योत महासेन की अवन्ती (उज्जयिनी) । इन चारों में परस्पर साम्राज्य का शक्ति-संघर्ष सदा होता रहता । जिस चातुरी से उदयन को चंड प्रद्योत ने बन्दी किया था वह अद्भुत थी। ग्रीकों के 'ट्रोजनवार' (Trojan War) वाले विशाल कृत्रिम अश्व की भाँति ही कृत्रिम गज द्वारा वह भी बन्दी हुआ था । उदयन का वासवदत्ता के साथ पलायन एक मृण्मूर्त्ति-ठीकरे पर शुंगकालीन कलाकार द्वारा उत्कीर्ण है । उदयन वीणा लिए वासवदत्ता के साथ गजारूढ़ हो भाग रहा है और पीछा करते हुए शत्रुओं को गज के पृष्ठ-भाग से स्वर्णमुद्राओं की वर्षा कर उसके सेवक अन्यमनस्क कर रहे हैं । शुंग कला का असाधारण आदर्श कोशाम्बी से उपलब्ध यह मिट्टी का ठीकरा भारत-कला-भवन, काशी, में सुरक्षित है । काल—छठी शती ई० पू०]

[अपराह्न २-५ १०-६-४०]

९

नहीं, बन्धूक, तथागत की महत्ता मैं स्वीकार करता हूँ। मैंने उनके उपदेश भी बड़ी श्रद्धा से सुने थे ; परन्तु मुझे उनसे तृप्ति नहीं हुई। मैं मानता हूँ कि उनके उपदेश असाधारण हैं, परन्तु क्या वे वास्तव में नवीन भी हैं ?" उदयन ने वक्तव्य समाप्त कर हँसते हुए मधु से भरा चषक एक साँस में रिक्त कर दिया।

"माना, बन्धु, वह भी माना। परन्तु यह वर्णव्यवस्था—क्या यह भी भ्रान्तिमूलक नहीं, निर्माताओं के अधिकार की शिलाभित्ति नहीं ? इसके प्रति क्रान्ति क्या नवीन नहीं है ? इस अर्थ तथागत के शब्द क्या जगी मानवता के प्राथमिक कोलाहल के नहीं हैं ?" बन्धूक ने उत्तर में पूछा।

वत्सराज कुछ गंभीर हो उठा।

वह बोला—"वर्णव्यवस्था 'भ्रान्तिमूलक' ? 'निर्माताओं के अधिकार की शिलाभित्ति ?' असंभव, बन्धूक, असम्भवस्त्वयं संघ काल के प्रभाव से विकृत हो जायगा। तथागत के निर्वाण के पश्चात् तुम्हारा संघ भी छिन्न-भिन्न हो जाएगा—तुम देखोगे। अच्छा आज बस।"

उदयन ने अर्धविवृत दासी की ओर देखा। चषक फिर भर गया। उसके रिक्त होते देर न लगी।

बन्धूक के जाते ही विलास-कक्ष सुन्दरियों से भर गया। कुछ विलासी के पर्यंक पर बैठ गईं, कुछ नीचे उसके चरणों में, कुछ परस्पर झुकीं। उनकी मादक मूर्ति चतुर्दिक दीवारों पर लगे दर्पणों में अनेक आकृतियों में प्रतिबिम्बित होने लगी। विलासी के नेत्रों में घूर्णित दीपशिखा-सी बल रही थी। उसके शरीर-भंग का मादक सौन्दर्य एक-एक विलासिनी की नेत्रपुत्तलिका में नाचने लगा। यौवन की शक्ति स्फूर्ति जनन करती थी, विलास का चातुर्य केलि की कला। मद से उन्मत्त राजन्य एक एक को लेकर पर्यंक के उत्तरच्छद में लपेट देता, फिर उसे उलटने लगता। उसकी बलिष्ठ भुजाएँ एक-एक को उठा लेतीं, अपने होंठों की ऊँचाई तक। निभृत कक्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक जब वह दौड़ जाता उसकी ग्रीवा से, कुहनियों से, कमनीय आकृतियाँ लटकती रहतीं, उनकी वेणियों की उछाल नागिनों सी बल खाती। कभी विलासी एक के नेत्र बन्द कर एक को चूमता, कभी एक को पीठ के नीचे दबा एक को पार्श्व से, एक को वक्ष से घर्षित करता।

आसव का स्रोत देर तक बहता रहा। धीरे-धीरे सुन्दरियाँ विदा हो गईं। केवल मदिराक्षी और प्रसादिका उदयन के पर्यंक पर उलटती रहीं।

मदिराक्षी कौशाम्बी की उर्वशी थी परन्तु अब उसके अलसाए यौवन का दुर्बलता पर षोडशी प्रसादिका का मादक विलास धीरे-धीरे मस्तक उठा रहा था। उसकी सरस कमनीय कान्ति पर उदयन भी मुग्ध था।

तब के विलास-क्षेत्र में उदयन का स्थान अद्वितीय था। प्रेम की वह मूर्ति समझा जाता था, विलास-कला का विशारद। प्रेमियों का वह आदर्श था, वनिताओं का स्वप्न।

उसकी प्रतिमूर्तियाँ नागरिकों के शय्या-कक्षों में, विलासिनियों के काम-कुंजों में, वारवनिताओं के क्रीड़ा-प्रकोष्ठों पर सर्वत्र टँगी रहतीं। साथ ही उसकी प्रेयसियों की प्रतिमूर्तियाँ भी उसके संयोग से आदर पातीं, विलास भूमि में लटकतीं, कामियों का उद्दीपन करतीं। परन्तु इस प्रकार की प्रसाद-लब्धाओं की संख्या थोड़ी न थी। विलासिता का चिरसेवी, व्यसन-कथाओं का नायक, ललित कलाओं का अनन्य उपासक उदयन मधुप्रिय भ्रमर था। झुक झुक, झाँक झाँक वह कलिकाओं को छेड़ता और विकसित करता, फिर विविध रंग के कुसुमों पर अटक अटक गुञ्जार करता।

वह सचमुच ही भ्रमर था—अतृप्त अथक भ्रमर। कुसुमों का मनोरम सुहृद्। उसके अनुराग से अर्धस्फुट मुकुलों का राग रंजन होता, कलिकाओं का शृंगार बनता, कुसुमों का पराग झरता। और निसर्ग में अर्धस्फुट मुकुलों की, कलिकाओं की, कुसुमों की कमी क्या थी? हाँ, गृह-कानन और कान्तार के कुसुमों में अन्तर अवश्य था। परन्तु किसके हृदय में अनजाने मुँद कर इस भ्रमर ने टीस न उठाई थी? किस प्रणय-क्षेत्र में इसने अनुराग-बीज न बोये थे? किसकी पंखड़ियाँ उसके सुतीक्ष्ण रस-शोषकों से न बिधीं?

विलासिनियों का विलास था वह उदयन, अभिसारिकाओं का आश्रय। वत्स का माधव था वह, प्रणय की पुकार। कुल-बधुओं का मंडन था वत्सराज, पतिव्रताओं का रहस्य, सतियों के सन्मार्ग का कंटक। पतियों का दाह था वह, पिताओं का भय, वह प्रद्युम्न का प्रतिनिधि।

साम्राज्यों के अवरोध अधीर हो उठे, संघों के अन्तःपुर विकल, नागरिकों के शुद्धान्त दूषित। दर्शक की पद्मावती अड़

बैठी, प्रद्योत की वासवदत्ता रीझ गई। स्वयंवरों की रीति बदल चली—उनका एक ही नायक था, एक ही वर—वही उदयन।

× × ×

उदयन के विलास-वन में उगते मुरझाते अंकुरों की न्यूनता न थी। जब रम्भा सोई, उर्वशी जागी, जब उर्वशी सोई, तिलोत्तमा जागी, जब तिलोत्तमा सोई, चित्रलेखा जागी। विषयों के उपकरण सोते जागते रहते परन्तु विषयी सदा चैतन्य बना रहता। उदयन के विलास में वीचियाँ अनेक थीं पर उनका मर्यादित समुद्र केवल एक था।

अब मदिराक्षी निष्प्रभ हो चली थी और प्रसादिका दीप्तिमती। कान्ति का राग एक पर से उतर कर दूसरी पर चढ़ता जा रहा था और उसी के अनुसरण में उदयन के प्रणय-नेत्र भी धीरे-धीरे गतिमान हो रहे थे। उदयन के विलास-कक्ष की चामीकर-चर्चित मृण्मूर्तियों की श्रेणी में मदिराक्षी की प्रतिमूर्ति को जो स्थान अब तक प्राप्त था उसे प्रसादिका की प्रतिमूर्ति ने ले लिया। उदयन के अन्तर प्रबन्ध में भी इसी प्रकार का परिवर्तन हो गया था।

सो जब मदिराक्षी के नेत्र वाम कर से मीच उदयन ने दक्षिण कर से प्रसादिका को पार्श्व से और भी कस कर चूम लिया मदिराक्षी को यह रहस्य जानते देर न लगी। मान की ज्वाला जगाए वह पर्यंक से उछल पड़ी और रोष के साथ वेग से विलास-कक्ष से बहिर्गत हो गई।

अभीष्ट की सिद्धि हुई। एक ने दूसरे की ओर देखा। उदयन ने मुसकरा दिया। हँसती प्रसादिका ने दक्षिण नेत्र का कोण कुछ संकुचित कर लिया। विलासी ने विलासिनी को अंक में और कस लिया।

पार्श्व के कक्ष में मदिराक्षी सिसक रही थी, पछता रही थी। क्रोध, ईर्ष्या और अन्तर्ज्वाला को शीतल करने के अर्थ उसने कई मधुपात्र वेग से रिक्त कर दिए। ज्वाला और धधक उठी—स्फुलिंग नेत्रों में छिटक-छिटक चमकने लगे।

"प्रसादिके, तू पथ-पथ की भिखारिणी होगी और कौशाम्बी, तू यदि मेरी न हुई तो यम की होगी"—उसने धीरे-धीरे कहा। फिर वह शीघ्र राजप्रासाद के बाहर निकल गई।

२

उदयन जब राजसभा से लौट कर प्रमदवन की ओर चला उसकी सखियाँ वृक्षों की ओट से, लताओं के पीछे से निकल-निकल कर उससे खेलने लगीं। माधवी-निकुंज के दोले में प्रसादिका के साथ बैठ जब कोमलांगियों के करों से दोलित राजा श्रम का विनयन करने लगा मदिराक्षी नहीं दिखाई पड़ी। उसने उसके विषय में पूछा भी नहीं। उसकी अनुपस्थिति में जगत अपना जान उसकी स्मृति और भी भुला देने के अर्थ प्रसादिका अनेक प्रणय-प्रक्रियाओं से उसे रिझाने लगी। उदयन भी आनन्द के नव साधन से आह्लादित होने लगा। अब उसे मदिराक्षी की आवश्यकता न थी। जब तक उसके विलास को प्रसादिका की मधुरता से स्वादाधिक्य का भास होगा मधु-रिका का स्वाद कभी का नीरस हो चुका होगा। उसके हृदय-कानन में नई कलिकाएँ फूटीं, मधुरिका मुरझा चली। मद्यप ने पुराना मधुपात्र फेंक दिया।

चषकों की गति दोला के साथ ही वेगवती हो गई। अनेक कंठों से विनिर्गता वाणी प्रमदवन के कोने-कोने में व्याप्त हो चली। राजा के अंगों में नवीन स्फूर्ति भरने लगी।

दोला भी भर चली। मुखकमल उदयन के वक्ष पर, पृष्ठ देश पर, स्कन्धों-कुहनियों पर आ टिके। रोम रोम में उनका रस भिन चला, काम के पूर्व लक्षण जाग्रत हो चले। परन्तु लतागृह को पुष्पशय्या की ओर मदनिका ने जैसे ही संकेत किया वत्सराज का विदूषक-मित्र निकुंज-द्वार पर आ खड़ा हुआ।

उसने कहा—उदयन, जिस प्रकार शासनरज्जु आर्य यौगन्धरायण के कर में छोड़ आखेट को जाते रहे, एक बार क्या दोला की रज्जुओं को मेरे कंठ में नहीं डाल जाओगे ?

असमय मदन को संयत करता कुछ खिन्न, कुछ सस्मित राजा बोला—क्यों नहीं डाल दूँगा परन्तु बोझ भारी है, रज्जु खिंचते ही कंठ कस जायगा।

हास्य का स्रोत फूट पड़ा।

इसी समय प्रमदवन की प्रतीहारी ने प्रवेश कर कहा—देव, आर्य यौगन्धरायण सेवा में उपस्थित हैं, दर्शन की अभिलाषा से।

उदयन की भृकुटियों में कुछ बल पड़ गए। महामंत्री का असमय आना किसी को अच्छा न लगा, न राजा को, न उसकी सखियों को। केवल सखा कुछ हँसा।

विनीत राजा बोला—वेत्रवति, आर्य यौगन्धरायण के प्रति मेरा प्रसाद प्रकट कर।

दोला रिक्त हो गई। उसके एक छोर पर सखा जा बैठा। सुन्दरियाँ जहाँ तहाँ जा छिपीं।

महामंत्री ने प्रवेश कर मस्तक नत कर लिया।

उदयन ने पूछा—आर्य, क्या संदेश है ? अभी तो व्यवहारासन से छुटकारा मिला और अभी कार्यश्रम को प्रमदवन में

धीरे-धीरे भुला रहा था। क्या कौशाम्बी के अधिपति को श्रम-निवारण का भी किंचित अवकाश न मिलेगा।

"देव, भरतवंश के नृपतियों को प्रजारंजन और पालन से कब अवकाश मिल सकता है? सूर्य सरीखे वे तेज और ऐश्वर्य को वहन कर सूर्य ही की भाँति अनवरत जगतहित के अर्थ व्यस्त रहते हैं।" महामंत्री ने उत्तर दिया।

"क्या समाचार है, आर्य ?" राजा ने पूछा।

"कष्टकर, महाराज। प्रद्योत महासेन की प्रसर-लिप्सा नित्य-प्रति बलवती होती जा रही है। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी भी अपने कर्तव्य-पालन में संलग्न हो पाटलिदुर्ग का निर्माण पूर्ण कर रहे हैं। अपनी असावधानी के कारण अंग कब का विनष्ट हो गया है, काशी कोशल के अन्तराल में समा चुकी है।" महामंत्री उत्तर में बोला।

"समा जाने दें आर्य! वे स्वयं क्या ठहर सकेंगे? स्वयं क्या वे सदा से वैसे ही प्रचंड हैं। समय था जब वे नहीं थे, समय होगा जब वे नहीं होंगे। भला इसकी क्या चिन्ता?" राजा बोला के तकिए के सहारे कुछ लेट गया।

व्यथित यौगन्धरायण अन्तिम प्रयत्न करता बोला—राजन्, चारों साम्राज्यों का संघर्ष पुराना है। सभी अपने-अपने उत्थान में प्रयत्नशील हैं, केवल वत्स सोता है। विरूधक ने कपिलवस्तु का ध्वंस कर शाक्यों को राज्यविहीन कर दिया, परन्तु हमारे कुमार बोधी को शस्त्रों की झङ्कार कर्णकटु प्रतीत होती है। भय होता है कहीं यह प्राचीन भरतवंश भी काशी की भाँति अवन्ती की बढ़ती सीमाओं में न समा जाय।

"आर्य का भय अकारण है। इस अनन्त कालरूपी सागर में उत्थान-अवसान का कोई अर्थ नहीं। इसमें साम्राज्य बुलबुले

हैं, वे कब उठें, कब विलीन हुए इसका पता नहीं। और विरूधक की बात। सो, आर्य, आपके और मेरे दृष्टिकोण में विशेष अन्तर है—आप मृत्यु का चिंतन करते हैं, मैं जीवन का। मेरे विचार में विरूधक की कार्यशीलता और बोधी की अकर्मण्यता में कोई अन्तर नहीं—फिर यह कि प्राचीन भरतवंश भी काशी की भाँति अवन्ती की बढ़ती सीमाओं में समा जाएगा हमारे उद्वेग का कारण नहीं होना चाहिए। साम्राज्यों के उदय और अवसान का सम्बन्ध समय की प्रगति से है और उस प्रगति का विरोध करना मानवों का अहंकार है—क्षुद्र दूर्वा द्वारा प्रचंड सामुद्रिक बला का अवरोध।"

विदूषक दोनों के वक्तव्यों से अपना चित्त हटाए इधर उधर छिपी सुन्दरियों से भावमय संकेतों में कथोपकथन कर रहा था।

महामंत्री कुछ खिन्न हो ऊपर से सस्मित मुद्रा बनाए जब मस्तक झुका चलने को हुआ राजा ने उसे रोकते हुए पूछा—आर्य, क्या पूर्व निश्चय के अनुसार आखेट का संभार हो चुका है?

"नए राजनैतिक संवादों के कारण आखेट का संभार कुछ शिथिल पड़ गया था परन्तु अब उसका प्रबन्ध होगा"—यौगन्धरायण अपनी उमड़ती भावबीचियों को दबाता हुआ बोला।

"आटविक बलाहक कार्यच्युत हो रहा है, आर्य"—कुछ सरोष उदयन बोला।

महामंत्री ने नतमस्तक हो कहा—देव, अपराध मेरा है। मैंने विचारा था कि कदाचित बाहर की उठती विपत्ति आखेट से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अब जाता हूँ—शीघ्र ही उसकी व्यवस्था होगी।

उदयन फिर घूम कर कुछ सबल स्वर में बोला—आर्य, उदयन अपने आदेशों में मंत्र की अपेक्षा नहीं करता और बाहर की उठती आँधी को, यदि वह प्रलय की आँधी है, गृह की खिड़कियाँ बन्द करके नहीं रोकना चाहता, नहीं रोक सकता।

यौगन्धरायण धीरे-धीरे चला। प्रमदवन के द्वार पर सेनापति ने अपना उत्सुक मस्तक ऊपर उठाया।

महामंत्री ने गंभीर भाव से कहा—सेनापति, प्रलय के मेघ कौशाम्बी के आकाश में उठ रहे हैं। राजा पूर्ववत् उदासीन है। चलो शक्तिभर प्रयत्न करें।

दोनों रथ पर बैठ गए।

× × × ×

इधर प्रमदवन फिर निनादित हो चला, कामिनियों की स्वरझंकार से, आनन्द के अमारोह से। मधु का स्रोत फिर बह चला; उदयन उसमें डूबने उतराने लगा।

२

अवन्ती और वत्स की सीमा पर आखेट का समारोह था। हाथियों के दल के उधर से जाने का संवाद मिला था। उदयन और उसके आखेट-सुहृद अपने-अपने गज पर सजे कानन में घुसे चले जा रहे थे। उदयन हरित वृक्षों के रंग का एक कसा वस्त्र पहने हुए था। घुटनों तक यह कच्छ सरीखा वस्त्र उसे कसे हुए था। उसका विशाल वक्ष कई प्रकार के पट्टों से कसा था जिस पर वनमालाएँ हिल रही थीं। हौदे के ऊपर उसके धनुष और तूणीर धरे थे। समीप के कुछ गजों पर सुन्दर यवनियाँ मस्तक के कुछ कटे केश पर मालिकाएँ झुलातीं, हृदयदेश पर वनमालाएँ धारण किए, धनुष-बाण, खड्ग और आखेट के

अन्य उपकरणों से सजी रह रह कर उदयन और उसके सुहृदों पर नेत्रबाण साध रही थीं।

आखेटक चल पड़े—कान्तार के बीच।

× × × ×

अपराह्न बीत गया, गजों का यूथ न मिला। उदयन उद्विग्न हो उठा। उसकी वनमालाएँ और यवनियाँ कुम्हला चलीं। अब उसने सघन वन में प्रवेश करना चाहा। कार्य कुछ साधारण न था। पर उदयन चला। सेना पीछे छोड़ देनी पड़ी। अनुचर, सुहृद भी छूट गए। यवनियों को आगे बढ़ने से राजा ने रोक दिया।

उदयन का अकेला विशाल गज अरण्य में घुसा। उसके संग केवल दो जन थे—गजसंचालक और पथप्रदर्शक आटविक। संचालक सावधानी से अंकुश के सहारे गज को धीरे धीरे बढ़ाए जा रहा था। आटविक मार्ग बताता जा रहा था और साथ ही जब वृक्षों की घनी शाखाएँ परस्पर मिल जाने के कारण मार्ग अवरुद्ध कर लेती थीं वह पैनी कुल्हाड़ी से उन्हें काट काट कर पथ निर्माण भी करता जा रहा था।

यह आटविक इस अरण्य के कोने-कोने से अवगत था। उदयन के आटविकों ने जब इस वन-प्रान्तर के मार्गोंसे अपनी अनभिज्ञता प्रगट की उसने इसकी सेवा स्वीकार कर ली। हाथियों के झुंड को उसने उधर से निकलते देखा था।

संध्या होने के बहुत पूर्व ही वन के इस भाग में अंधकार हो चला था। सघनता ऐसी थी कि दोपहर में भी वहाँ सूर्य का प्रकाश पूरा नहीं पहुँचता था, अब तो संध्या हो चुकी थी। आखेट का उत्साह उदयन को आगे बढ़ाये लिये जाता था। आटविक प्रसन्न वदन बार-बार कह उठता—'हस्तियूथप इधर ही

अपने दल से विलग होकर चर रहा था। कहीं यहीं होगा, और उदयन उत्साह से उछल पड़ता। थोड़ी-थोड़ी देर पर वृक्षों और उनकी शाखाओं के टूटने का शब्द सुन पड़ता था।

रात्रि के आगमन की सूचना नीड़ों को लौटते हुए पक्षियों ने दे दी। उनके कलरव से वनप्रान्तर गूँज उठा। अंधकार घना हो गया। अब आगे बढ़ना कठिन था। उदयन भूख प्यास भूल गया था—उसे था हस्तियूथप के समीप पहुँचना। उसने आटविक को ललकारा—आटविक, यूथप कहीं निकल न जाय।

आटविक ने गजसंचालक से उसका अंकुश ले लिया और लगा सावधानी से बढ़ने। आगे बढ़ना बड़ा कठिन था। अंधकार को चीरकर वन-वृक्ष कीं गुँथी शाखाओं के मध्य से होकर जाना था। आटविक धीरे-धीरे बढ़ा, राजा को आश्वासन देता। प्रकाश कर नहीं सकते थे, दावाग्नि का भय था। वृक्षों के टूटने का शब्द फिर सुन पड़ा।

कुछ दूर और शक्तिभर प्रयत्न करने पर बढ़े। समीप, दाहिनी ओर का आकाश कुछ खुला—एकाध तारे और चन्द्रमा दिखाई पड़े। कुछ प्रकाश मिला। उत्साह से उदयन का हृदय भर गया। आटविक ने दाहिना ओर संकेत कर कहा—देव, अब कुछ चिन्ता नहीं, वह खुला क्षेत्र है। निशा बिता कर प्रातः आखेट को निकलेंगे। कहीं पास ही यूथप भी होगा।

उदयन गज से उतर पड़ा—उस हरीभरी सुविस्तृत श्यामल भूमि में। विशाल प्रसाद था उस हरित क्षेत्र का। अभी उदयन गज से उतरा ही था कि आटविक कुछ चौकन्ना हो गया।

पूर्व दिशा की ओर दूर तक दृष्टि फेंक उसने कुछ विस्मय प्रगट किया, फिर वह बोला—देव, क्षेत्र के उस सुदूर पूर्व छोर

पर विशाल यूथप खड़ा चर रहा है और जब वह अपनी सूँड़ से शाखाओं को तोड़ता है, 'चट' 'चट' शब्द होता है।

उदयन ने देखा—दूर वृक्षों के छोर पर श्यामकाय विशाल गज छाया में अस्पष्ट खड़ा था। धीरे-धीरे वह अपनी सूँड़ उठा कर शाखाओं को बलपूर्वक तोड़ता और वह टूटने का शब्द सर्वत्र व्याप्त हो जाया करता। यही शब्द उदयन को घने वन में दूर से कई बार सुन पड़ा था।

उदयन ने झुक कर फिर देखा। उसने आटविक से कहा—आटविक, यह तो यूथप ही जान पड़ता है।

आटविक बोला—देव, यह यूथप ही है। यह यहाँ छूट गया है। अब घोर अरण्य से निकल अपने निवास की ओर नहीं जा सकता। देव, विश्राम करें। प्रातः उसे पकड़ने का प्रयत्न करेंगे।

परन्तु उदयन को धैर्य कहाँ था? उसने अपनी 'हस्तिकान्त' वीणा उठा ली और लगा तन्मय हो उसके तारों पर अपनी अँगुलियाँ फेरने।

उद्वीणन में परम निपुण उदयन के हस्तसंचालन में अद्भुत कुशलता थी। तारों से निकल निकल राग उस निर्जन वन की नीरवता में पसरने लगा। राग का स्पन्दन धीरे-धीरे तरुओं के पुलिनों को भी स्पन्दित करने लगा। मादक स्वर समीप के गज में कम्पन उत्पन्न करने लगा और वह एक-एक चरण उठा थिरकने सा लगा। दूर के विशाल गज ने भी इस राग को सुना। उसके पदों में भी स्पन्दन आरम्भ हुआ।

आटविक ने कूतूहलवश कहा—देव, यूथप ने वीणा का स्वर सुन लिया है।

उदयन ने कुछ नहीं सुना। अपने ही वादन के स्वर में वह

विभोर हो चला था। उसने आटविक की बात न सुनी, परन्तु उसने देखा।

उसने देखा—यूथप ने मानो दो चार बार अपने पगों को हिलाया फिर सूँड़ को शाखाओं से विलग कर उसे उनके मध्य वह धीरे-धीरे हिलाने लगा। उसके पगों में गति भरने लगी। एक ही स्थल पर उसके चरण गतिमान होने लगे। सूँड़ हवा में उठने गिरने लगी, तरंगें उठाने और गुंजलक भरने लगी। फिर वह मुड़ा। उसकी पूँछ ऊपर पीठ पर घूम पड़ी।

यूथप की चिंघाड़ सुन पड़ी, वन के मध्य, उसकी नीरवता को भरती हुई। यूथप, हस्तिकान्त की ओर धीरे-धीरे बढ़ा—पगों को दबा-दबा कर रखता, मद्यप की भाँति हिलता डोलता। चला वह वीणा के स्वर की ओर लक्ष्य कर—वह कज्जल-कूट यूथप।

उदयन ने जैसे-जैसे उसे समीप आते देखा वीणा-संवादन में उसकी तन्मयता बढ़ती गई। उसके पार्श्वस्थ जन भी तन्मय-से खड़े वीणा-स्वर सुनते विशाल गज को निरख रहे थे। केवल आटविक कुछ अन्यमनस्क था।

जब गज अधिक समीप आ गया, उदयन का मुख-कमल खिल उठा। उसका गज यूथप की ओर बढ़ा। सहसा वेग का कोलाहल हुआ और यूथप का उदर बीच से फट गया। उसमें से कितने ही शस्त्रधारी सैनिक यकायक निकल कर उदयन और उसके गजसंचालक पर टूट पड़े। चकित, विस्मित उदयन बँध गया। आटविक को किसी ने हाथ न लगाया। वह दूर खड़ा अपनी विजय पर गर्व-पूर्वक हँस रहा था।

४

वार बीते, सप्ताह और मास बीते। वर्ष भी बीत चला।

मधु रीता, निदाघ सूखा, पावस की झड़ियाँ भींगीं, शरत् चमका, हेमन्त सिधारा, शिशिर भी गल चला। विलासी का नगर छूटा, चषकों के दौर छूटे, विलासिनियों की शृंगार-प्रक्रियाएँ छूटीं। वत्स का विलास रो पड़ा। कौशाम्बी का सिंदूरबिन्दु धुँधला हो चला। उदयन नहीं था।

× × × ×

उदयन उज्जयिनी की प्रासादपरंपरा के एकांत कारागृह में पड़ा था। पातालवास करते महीने बीते गए—किसी ने उसकी सुधि न ली। पहले तो अपने मुख्यामात्य यौगन्धरायण की बुद्धि-शक्ति का उसे इतना भरोसा था कि उसने कारागार के आरम्भिक दिन हँसते-हँसते काट लिए। सदा वह अकेला मुसकराता रहता परन्तु जैसे-जैसे दिवस बीते वह कुछ निराश-सा होने लगा, उसकी आशा-वेलि मुरझाने-सी लगी। एक अनोखी पीड़ा उसे सदा दुखी करती रहती। कौशाम्बी और उसके विलास-उपकरणों का स्मरण अत्यन्त दुस्सह हो उठा। बन्दी का विलासी हृदय रो उठा।

धीरे-धीरे यह अवस्था भी बीती।

धीरे-धीरे बन्दी को अपनी दशा से संतोष होने लगा, अपनी क्रूर दीवारों से वह कुछ परिचय-सा हो चला और कारा-वास को अपना सहज धर्म समझने लगा। भाग निकलने की अभिलाषा जो कभी बड़ी प्रबल थी अब न रही। अब तो मुक्ति की भी वह कुछ विशेष इच्छा न करता। बालरवि का थोड़ा प्रकाश जब उसके कक्ष में प्रवेश करता, वह विहग-दम्पति की ओर पर्यंक पर पड़ा-पड़ा देखा करता। उनकी आनन्द-क्रीड़ा वह तन्मय हो देखता, फिर जब वे बच्चों को वहीं नीड़ में छोड़ फुदकते हुए उसके मस्तक-कन्धों पर आ बैठते, वह उन्हें धीरे-धीरे कर में ले सह-

लाता। जब वह नित्य के नैमित्तिक पथ पर उड़ जाते वह ठंढी साँस खींच कर रह जाता कभी-कभी वह उनसे पूछता—"विहग-वर, क्या तुम्हारे मार्ग में वत्स भी पड़ता है? क्या कौशाम्बी के समृद्ध प्रकोष्ठों पर तुम कभी उतरते हो? क्या मदिराची और प्रसादिका के अनुराग-रंजन, शृंगार-साधन होते हैं? क्या तुमने बोधी को जनक के वियोग में रोते सुना है?

जब तक वह बोलता रहता विहग चुप-चाप नीरव हो सुनते रहते फिर धीरे-धीरे उड़कर चले जाते, उसके दृष्टि-पथ के पार और जब तक वे नेत्रों से ओझल न हो जाते बन्दी गवाक्षों से बराबर देखता रहता, फिर रो पड़ता। अपनी असमर्थता, असहायता पर अपना ही हृदय टूक-टूक हो नेत्रों के मार्ग से उमड़ पड़ता।

वह कहता—"सदा ये विहग उसी उत्तर के मार्ग से जाते हैं—कौशाम्बी की ओर।" सन्ध्या को जब वे लौट कर उससे खेलते, अत्यन्त उत्सुकता से वह पूछता—"कोई मिला? किसी ने अभागे उदयन की बात पूछी?" फिर जब विहग उसकी ग्रीवा में अपनी चंचु छिपा लेते वह कहता—"विकल न हो, पक्षिवर, कोई कभी अवश्य मिलेगा। उससे मेरी बात कहना। बोधी से कहना—तुम्हारा पिता तुम्हें भूला नहीं। और रानियों से, मदिराची-प्रसादिका से कहना—उनके मान का प्रायश्चित उदयन अपने उमड़ते हृदय-स्रोत से करता है।"

एक दिन जब अभी के निकले फुदकते विहग-शिशु की रक्षा के अर्थ विहगी नीड़ में ही रह गई और विहग अकेला पर्यंक पर आ बैठा उदयन ने उससे अपनी नित्य की बात दुहराई। विहग संदेश वहन कर उड़ चला, बन्दी के दृष्टि-पथ से बाहर, उत्तर कौशाम्बी की ओर।

आज बन्दी कुछ चिन्तित था, दुखी। मध्याह्न में जब यवनी भोजन लेकर आई, बन्दी पूर्ववत् एकटक छत की ओर देखता रहा। सुन्दरी विदेशिनी ने प्रेमपूर्वक पूछा—बन्दी, आज चिन्ता के भार से दबे जान पड़ते हो। तुम्हारा पीत मुख और भी पीत हो चला है। क्या बात है ?

बन्दी चुप रहा, निश्चल।

यवनी बोली—राजन्, चिन्ता छोड़ो, समय फिरेगा।

बन्दी कुछ न बोला। उसने भीतर पूछा—क्या वास्तव में समय फिरेगा ?

यवनी चली गई।

संध्या हुई। विहग नहीं लौटा। विहगी कुछ चंचल हो उठी। वह बाहर उड़ी, फिर भीतर आई। जैसे-जैसे संध्या सघन होती जाती विहगी की चंचलता बढ़ती जाती। जब अंधकार बढ़ने लगा वह वेग से कारावास में चक्कर काटने लगी। अब बन्दी की विचार-निद्रा टूटी। उसने जाना—अभी तक विहग न लौटा। विहगी से उसने पूछा—क्या है ? कहाँ है तेरा स्वामी ? अभी तक क्यों नहीं लौटा ?

विहगी आकर उसके स्कन्धदेश पर बैठ गई। फिर लगी अपनी चंचु को धीरे-धीरे उसकी ग्रीवा में चुभाने। बन्दी को जैसे चेतना हो आई। इस प्रकार की देर अस्वाभाविक थी। उसने विहगी का सकारण उद्वेग देखा। वह स्वयं कुछ अस्थिर हो उठा। उसने विहगी को प्यार से सहलाते हुए कहा—घबरा मत, रानी, तेरा राजा आएगा।

बन्दी ने विहगी को चूम लिया।

विहगी मानो कुछ झल्ला गई। वह उसके स्कन्धदेश से उड़ आई और लगी काराकक्ष में चक्कर काटने। रह रह कर जैसे वह

रो उठती थी। उसका स्वर कुररी के विलाप-सा बन्दी के हृदय में रह रह कर हूक-सी उठाने लगा। उसने जाना विहगी का क्रन्दन स्वयं उसका है, उसकी रानियों का।

सारी रात विहगी बिलखती कक्ष में चक्कर काटती रही और बन्दी के अन्धकार में सधे नेत्र उसकी गति का अनुसरण करते रहे। क्षोभ और संताप से जर्जर, पीड़ा और वियोग से व्यथित, उत्सुकता और उड़ान से थकी विहगी प्रातःकाल उषा के आगमन से पूर्व बन्दी की गोद में आ गिरी। उसका जलता शरीर बन्दी ने सहलाया, फिर वह उसे आश्वासन देने लगा। धीरे-धीरे उषा ने डरते-डरते कारागृह में झाँका।

बन्दी ने देखा—विहगी तड़प रही थी। थकान और प्यास के कारण, प्रिय के विछोह में संतप्त। उसने दौड़ कर उसकी चंचु में जल डाला। उसे आश्वासन दिया। चंचु खुल गई। विहगी ने बन्दी का आश्वासन न सुना।

धीरे-धीरे उदयन बाहर निकला। ऊँची दीवारों के समीप स्नानागार की ओर वह चला। किराती के झोपड़े में दीपक टिम-टिम कर रहा था। बन्दी ने किराती से माँग कर कुछ अग्नि ली और टहनियों से उसे प्रज्वलित कर उसमें विहगी के शरीर को डाल दिया।

वह बैठा देर तक कुछ गुनता रहा, रोता, सिसकता। किराती विस्मित थी, उसका क्रूर श्वान चकित था। बन्दी ने काँपते करों से विहगी की भस्म उठाई और उत्तरीय के छोर में बांध ली। फिर धीरे-धीरे वह अपने कक्ष की ओर चला।

कक्ष भयावह हो उठा था, रोता-सा। द्वार में प्रवेश करते ही बन्दी ने देखा—विहग-दम्पति का नीड़ उजड़ चुका था, तिनके नीचे पड़े थे। बच्चे न थे, परन्तु उनके कुछ पंख देहली पर

बिखरे थे। उसने सब जान लिया। उसे मदिराक्षी-प्रसादिका का स्मरण हुआ, फिर रानियों और बोधी का। कटे वृक्ष की नाईं सूखे पर्यंक पर वह जा गिरा।

× × × ×

मध्यान्ह में यवनी आई। कारावास में अशौच-सा छाया हुआ था। वह भाँय भाँय करता था। वन्दी बेसुध पड़ा था। यवनी कुछ चिन्तित-सी हो उठी। उसने वन्दी को हिलाया पर वह न जगा।

वह जानता था।

यवनी ने बाहर खड़े व्यक्ति को संकेत से बुलाया। एक काषाय परिव्राजक ने कक्ष में प्रवेश किया। यवनी बाहर निकल गई।

परिचित स्वर सुनकर वन्दी ने नेत्र खोले परन्तु वह चिर-परिचित को न पहिचान सका।

परिवाज्रक ने पूछा—देव, अपने विनीत सेवक यौगन्धरायण को बिलकुल ही भूल गए ?

वन्दी के कक्षु चमक उठे। पर निष्प्राण-सा वह उठा। उसने यौगन्धरायण का अभिवादन स्वीकार कर उत्तर दिया—भूल तो नहीं गया, आर्य, परन्तु जब जग ने मुझे भुला दिया मैं भी उसे भूलने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

वन्दी का रोम-रोम रो रहा था। परिव्राजक के नेत्र भींज चले थे।

"क्या समाचार है, आर्य ?" वन्दी ने पूछा।

"प्रद्योत ने कौशाम्बी पर अधिकार कर लिया है परन्तु वत्स अपने प्रभु के लौटने की आशा में चिन्तित, उत्सुक बैठा है।" यौगन्धरायण बोला।

बन्दी के नेत्र फिर चमक उठे परन्तु विहगी की स्मृति ने उसे फिर खिन्न कर दिया। उसने मस्तक झुका लिया।

यौगन्धरायण बोला—देव, अब शीघ्र छुटकारा होगा और कौशाम्बी के दिन फिरेंगे। जनता तत्पर बैठी है, संकेत पाते ही प्रद्योतों को मार भगाएगी।

बन्दी ने पूछा—तब ?

मुख्यामात्य बोला—प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता कला में पारंगता है परन्तु वीणा-संवादन में वत्सराज की कुशलता अद्वितीय है। विनीत यौगन्धरायण प्रद्योत का सभासद-मंत्री है। उसकी सम्मति और वासवदत्ता की याचना से अब वत्स-राज राजकन्या को वीणा-संवादन में दक्ष करेंगे। फिर अगली अमावस्या को वासवदत्ता और वत्सराज उज्जयिनी छोड़ देंगे।

यौगन्धरायण की बात सुनकर उदयन के हृदय में आशा का संचार हुआ परन्तु कारावास की दीवारें, विहग-दम्पति का सहवास, सभी परिचित, प्रिय हो चुके थे। जाने की इच्छा न होती थी।

आगे-आगे यौगन्धरायण, पीछे-पीछे उदयन निकले। दूर यवनी किराती से उदयन की कथा सुन अपने भींगे नेत्र ऊर्ध्व-पट से धीरे-धीरे पोंछ रही थी।

५

उदयन वासवदत्ता का आचार्य बना। यौगन्धरायण के प्रयास से जब उदयन की 'घोषा' उसके कर में आई वह प्रसन्न हो उठा। जब वह वासवदत्ता के प्रासाद में वीणा को अनुप्रा-णित करता, चराचर विमुग्ध हो उठता। मुग्धा वासवदत्ता पहले से ही वत्सराज की कथा पर अपने को उत्सर्ग कर चुकी थी अब

उसके वीणा-वादन की कुशलता ने उस पर संमोहन डाला। उसकी स्वर-झंकार से उसका अंतरतम पूरित हो जाता और वह प्रस्तर-मूर्ति की भाँति एकटक उदयन को देखती रहती। परन्तु बीच-बीच में उदयन के हृदय में विहग-दम्पति की स्मृति हूक-सी उठा देती और उसके वाद्यस्वर में एक अद्भुत वेदना-व्यंजक स्पन्दन हो उठता। वासवदत्ता के नेत्रों से वारिधारा बह उठती और संमोहक वत्सराज के नेत्र भी भींग चलते।

× × ×

दिन बीत चले, सपद। शिशिर के पश्चात् वसन्त का आगमन हुआ। स्मृति भी समय की गति में खो गई। माधव मधु ढालने लगा। उदयन ने भी अपने प्रासाद में गन्धवसी मदिरा ढाली। उसके साँजन नयन आसव के प्रभाव से कुछ और रक्ताभ हो चले, उनके डोरे जड़-चेतन सभी को खींचने लगे। कादम्बरी से उन्मत्त उदयन दर्पण के सम्मुख अपने लौटे रूप की छवि निहारने लगा। उष्णीष का ऊर्ध्व पक्ष वायु की उठती लहरियों के संग खेलने लगा। उदयन का हृदय थिरक उठा।

उसने वीणा उठा ली—सुपरिचित वीणा—'घोषा'। फिर बैठा वह चरम विलासी उदयन क्रोड़ में वीणा धरे बिस्तृत भद्रपीठ के मध्य और लगा धीरे-धीरे 'घोषा' के तारों पर अँगुलियों का संचालन करने।

प्रकृति नवीन साधों से, वासन्ती उपकरणों से सज चुकी थी। निसर्ग उदयन के तार-संकेत पर लगा काँप-काँप नाचने। पूर्णिमा की चमकती कौमुदी जब उज्जयिनी के प्रासादों के कनक कलशों पर बिखर-बिखर विहँस रही थी उदयन की वाद्यकला विशाला के नर-नारियों में सोए प्रणय को गुदगुदा गुदगुदा जगाने लगी। नागरिक-नागरिकाएँ अट्टों पर चढ़-चढ़ राज-

प्रासाद के अभिमुख हो वह विस्मयजनक ताल-स्वर सुनने लगीं। महाकाल की नर्तकियाँ स्थिर हो गईं, स्तब्ध। उनकी किंकिणियाँ गूँगी हो गईं। चमर-रत्नों की कौंध रुक गई।

उदयन का तन्त्रीनाद उसके हृदय को भर बाहर बह चला। उसकी वेगवती धारा के संग आधारबन्ध भी बह चले। प्रतिध्वनि से प्रद्योत की प्रासाद परम्परा का कोना-कोना भर चला।

स्वर की झंकृति सुन वासवदत्ता अपने शयन-कक्ष से निकली। निशीथ में प्रणयी की पुकार उसने सुनी। शृंगार के प्रसाधनों से सज वह उस ओर चली जहाँ वत्स का विलासी अपने स्वर में विश्व का विलास लुटा रहा था, जहाँ प्रणयी का हृदय 'घोषा' के स्वर में उसे बार-बार पुकार रहा था।

वासवदत्ता चली, जगत का उल्लास लिए। यह रति का अभिसार था मदन के प्रति। मदन का तरलतन्तु बह रहा था रागिनियों की प्रणालिकाओं से।

वासवदत्ता ने प्रवेश किया, धीरे-धीरे हृदय पर हाथ धरे, झिझकती, झेंपती। यवनी कुछ दूर पर खड़ी थी, वासन्ती की ओट में।

वासवदत्ता ने प्रवेश किया। 'घोषा' का नाद बहता रहा। उदयन ने नेत्र न उठाये। वासवदत्ता धीरे-धीरे जाकर चौड़े भद्रपीठ पर उदयन के समीप बैठ गई। 'घोषा' का नाद पूर्ववत् बहता रहा।

उदयन ने कुछ मुड़ कर वह विश्व की रहस्यमयी अद्भुत-रति-काया देखी और उसका कर-संचालन और भी द्रुततर हो गया—द्रुततर, काम्य, उन्मादक।

अंधकार में सहस्र मार्गों से पैठते रश्मिपुंज की भाँति स्वर

के असंख्य तार वासवदत्ता के आहत हृदय को रह-रह कर बेधने लगे। जैसे-जैसे स्वरों की तीव्रता बढ़ती वैसे ही वैसे उसके कुरंग-हृदय में वेग से चोटें लगतीं, कसक होती। टीस की वेदना से व्याकुल वासवदत्ता ने धीरे-धीरे अपना मस्तक उदयन के दक्षिण स्कन्ध पर रख दिया। उसके नेत्र मुँद गये।

उदयन ने तन्त्री धर दी। निसर्ग में स्वर अब भी गूँज रहा था। फिर धीरे-धीरे सन्नाटा छा गया। चन्द्रमा ने बादलों के घूँघट में मुख छिपा लिया। वासन्ती की ओट से एक छाया निकल कर कदली की बाड़ों में विलीन हो गई।

६

वैशाख की अमावस्या थी। अंधकार चतुर्दिक फैला हुआ था। निशा आधी से अधिक जा चुकी थी। आकाश में असंख्य तारे चमक रहे थे फिर भी अंधकार का राज्य सर्वत्र फैला था।

यकायक उज्जयिनी के प्राकार-वेष्टनों के प्रकाश संचारी हो उठे। घंटे बज उठे और नगर के खुले मुखद्वार से कितने ही सैनिक निकल पड़े। उज्जयिनी के नागरिकों ने न जाना। चंड प्रद्योत दक्षिणी सीमा पर गया हुआ था। उदयन वासवदत्ता को ले अपने विशाल गज पर भागा जा रहा था। स्वयं यौगन्धरायण गज-संचालन कर रहा था। मदिराक्षी यवनी ने नगर के मुखद्वार के ऊपर खड़े-खड़े अपने नेत्र पोंछ लिए।

आकुलता से भरी वासवदत्ता उदयन के अग्र-भाग से चिपटी हुई थी और उदयन अपनी 'घोषा' हाथ में लिए शत्रुओं की ओर पीछे देख रहा था। कौशाम्बी की वीर, चुनी सेना के मध्य विशाल गज वेग से भाग रहा था। धीरे-धीरे वत्स की सेना नष्ट

हो चली। वासवदत्ता का हृदय आकुल हो रहा था। यौगन्धरायण द्रुतवेग से गज का संचालन कर रहा था।

जब उसकी सेना गिर चली, यौगन्धरायण ने गज के पृष्ठ-भाग पर बैठे पुराने गज-संचालक से कहा—अन्धक, सुवर्ण की नकुली खोल दे।

नकुली खुल गई। तारों के क्षीण आलोक में सुवर्ण झन-झनकर मार्ग में गिर पड़े। शत्रु-सैनिक उनको उठाने में लगे। गज वेग से भागा। उसके पृष्ठभाग से निरन्तर सुवर्ण की वर्षा होती रही।

उदयन ने वत्स की सीमा में प्रवेश किया।

× × ×

उसी रात यौगन्धरायण के चरों के संकेत से कौशाम्बी की जनता और सेना ने विप्लव किया। अवन्ती की सेना वत्स से निकल भागी।

× × ×

फिर विलास का राग जमा। उदयन के दिन फिरे। वासवदत्ता के विभ्रम से मत्त विलासी अपने विलास-कक्ष से किंचित ही निकलता। उसके कंठ की मादकता वासवदत्ता के स्वर से मिल एक अनुपम रस का संचार करती जिसमें दोनों सराबोर हो जाते। परन्तु जब कभी उदयन अकेला अपना विश्व-विमोहक आलाप लेता उसमें एक अद्भुत वेदना रो उठती। उस रुदन में कारावासिनी विहगी का क्रन्दन होता।

गोमेद की मुद्रिका

[फ़ारस-देश छठी शती ई० पू० में संसार का सिरमौर था। उसका साम्राज्य उस समय सबसे बड़ा था। भारतवर्ष का सिन्धु प्रदेश फ़ारस साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त था जहाँ सम्राट दारयवहु (Darius) द्वारा नियुक्त एक क्षत्रप शासन करता था। इस सिन्धु प्रान्त को 'हिन्दी' कहते थे। इसका उल्लेख पर्सिपोलिस तथा नक्शए-रुस्तम दोनों शिलालेखों में हुआ है। हिन्दी प्रान्त से आय के रूप में करोड़ों रुपयों का सोना प्रतिवर्ष फ़ारस को प्राप्त होता था। इसके साम्राज्य के मुख्य नगर 'पारसपुर' (Persepolis) 'शूषा' और 'एकबताना' थे जहाँ कला के विस्मयजनक नमूने राजप्रासादों के रूप में अवस्थित थे।]

१—१०—१६४०] [मध्याह्न, १२—३०—२—३०

१

पार्थिव सूर्य दारयवहु चमक रहा था। पारस का साम्राज्य मूर्धाभिषिक्त था। जब शाक्यसिंह मगध में दहाड़ रहा था, अजात-शत्रु वज्जियों से उलझ रहा था, चंड प्रद्योत महासेन की अवन्ती विलासी उदयन की कौशाम्बी को लालचवश घूर रही थी, और जब कोसल का मदान्ध विरूधक शाक्यों के भस्म से कपिल-वस्तु का वातावरण दूषित कर रहा था, तब पारस का सम्राट् दारयवहु अपने सुविस्तृत साम्राज्य की समृद्धि पर करवटें बदलता था। जिस समय पाटलिदुर्ग धीरे-धीरे नगर का आकार धारण कर रहा था उस समय दारयवहु के साम्राज्य का केन्द्र पारसपुर जगत का बेजोड़ नगर था।

संसार की समृद्धि कहाँ उपलब्ध थी, जगत का क्रय-विक्रय यहाँ होता था। सब प्रकार की वस्तुओं का यहाँ मूल्य आँका जाता था। राज्य यहाँ बिकते थे; राजकुमार-दास, सैनिक शक्ति, सुवर्ण-हीरक, मनुष्य, ऐश्वर्य सब कुछ यहाँ उपलब्ध था। सभी बिकता था। पश्चिम जगत की प्रसिद्ध यवनियाँ मगध, कौशाम्बी और उज्जयिनी के अवरोधों में यहीं से जाती थीं, यहीं के विपणि-मार्ग में बिकती थीं। संसार अपने अश्व यहीं क्रय करता था।

दारयवहु के पूर्वज कुरु के दिग्विजय से पारस के साम्राज्य का विस्तार असीम हो चुका था। पश्चिम में ग्रीकों के समुद्रतट

तक पारस-सम्राट की पताका फहराती थी। फिर उत्तर-पश्चिम में उसकी सीमा पूर्वी यूरोप को छूती थी। उत्तर के उद्दंड सामरिक उसका लोहा मानते थे और पूर्व में चीन को उसकी शक्ति ज्ञात थी। दक्षिण में उसके सामुद्रिक बेड़े भारतीय सागर तक धावा मारते थे, सार्थवाहों से कर लेते थे। पारसपुर ऐश्वर्य का पीठ था।

साम्राज्य की समृद्धि पारसपुर, शूषा और एकबताना के नगरों में धारासार गिरती थी और विपुल ईरानी नागरिक अपने को संसार का विशिष्ट जन मानता था। उसके चरणों तले विश्व लोटता था—यूनान, मिस्र, बावेरु, अरब, शकस्थान, मकरान, बह्लीक, कापिशी, सिन्धु।

× × ×

पारसपुर के राजप्रासाद में, जहाँ रत्न-हीरक स्थान-स्थान पर झाँकते थे, द्रविणराशियों से कोश भरा था, राजसभा में आर्य आर्यपुत्र दारयवहु स्वर्ण के सिंहासन पर बैठा था। सिंहासन के चरण-सिंह सजीव से प्रतीत होते थे। उनके नखों के हीरक रह-रहकर चमक उठते थे, उनके नेत्रों के लाल अपना रक्तमय आलोक छिटका रहे थे। स्वर्ण के श्रीवितान के नीचे संसार का सबसे ऐश्वर्यशाली सम्राट् बैठा था। उसके चारों ओर चमकते प्रस्तरनिर्मित स्तम्भों के ऊपर विशाल सिंह बैठे थे। उनकी सजीवता नवागन्तुकों के हृदय में त्रास भरती और चिरपरिचितों के मन में आश्चर्य। कलाकारों की अद्भुत चातुरी से सिंहों की ये प्रतिमाएँ कोरी गई थीं। एक-एक शिरा दिखाई पड़ती थी। सटा का एक-एक केश पृथक् था।

सम्राट् के दोनों पार्श्व में साम्राज्य के प्रमुख मंत्री, सभासद और संभ्रान्त कुलों के प्रतिनिधि बैठे थे। आज का दिन विशेष

था—नौरोज का। विविध प्रदेशों के क्षत्रप अपने-अपने शासन-भार पदस्थों पर डाल राजधानी में उपस्थित हुए थे। पारस के नवीन प्रदेश 'हिन्दी'—बीसवीं क्षत्रपी—से आज प्रथमबार कर आया था।

जब सारे क्षत्रप अपने-अपने कर प्रदान कर चुके। सिन्धु का रोहिताश्व उठा। वह पारसपुर का सबसे भाग्यवान नागरिक था क्योंकि उसे पारस-साम्राज्य का सबसे ऋद्ध प्रदेश शासन में मिला था। आज के समारोह में उसकी विशिष्ट मर्यादा थी। सारे नेत्र उसकी ओर लगे थे।

शाह दारयवहु के महामंत्री का संकेत पाकर रोहिताश्व उठा। उसने सिंहासन के सम्मुख आ कई बार झुककर सम्राट् की वन्दना की फिर आज्ञा की प्रतीक्षा में वह खड़ा रहा।

दारयवहु ने कहा—रोहिताश्व, हिन्द की आय उपस्थित करो।

कई बार फिर मस्तक झुकाकर रोहिताश्व ने पूर्व की ओर खड़े दासों की ओर संकेत किया। दास सभाभवन के मध्यभाग की ओर चले। एक-एक दास अपनी रजत मंजूषा दारयवहु के सम्मुख नीचे बैठे सभासदों की पंक्तियों के मध्य रख अनेक बार सिंहासन का अभिवादन करता। प्रत्येक बार रोहिताश्व मस्तक झुका मंजूषा की स्वर्ण-धूलि कर से उठाकर उसमें फिर गिरा देता। दारयवहु के नेत्र उसकी मुकुटमणियों से चमक उठते। फिर उसकी सुदीर्घ दाढ़ी के श्वेत केश उसके किरीट-रत्नों के प्रकाश में अनेक रंगों से रँग जाते।

बड़ी देर तक स्वर्ण-चूर्ण से भरी मंजूषाएँ आती रहीं और रोहिताश्व एक-एक को खोल-खोल दिखाता रहा। स्वर्ण के पश्चात्, रत्नों की बारी आई—मोतियों, मणियों और हीरकों की।

एक-एक सभासद् अपने समीप के अमीर की पगड़ी को देखता परन्तु उन पगड़ियों की रत्नलड़ियों में भारत के इन रत्नों का चमत्कार न था।

कई दिनों तक इसी प्रकार प्रदर्शन चलता रहा। जब द्रविण-मंजूषाएँ रिक्त हुईं, रत्नपेटिकाएँ आईं, जब वे गईं क्षौम-दुकूल आए। फिर अन्तिम दिवस मानव-मूर्तियों की अद्भुत छवि प्रदर्शित हुई—दासों और दासियों की पंक्ति चली। दारयवहु प्रसन्न हो उठा। उल्लास से भर उसने प्रसन्नता से शब्दघोष किया। कुछ काल तक पारस के भूखे अमीरों के कंठ से दारयवहु के शब्दघोष की प्रतिध्वनि होती रही। एक-एक नारीमूर्ति को देख पारसपुर का एक-एक संभ्रान्त नर विक्षिप्त हो उठा। क्या वृद्ध क्या युवा।

दासों के पुष्टगात्रों को देख पारस के सम्राट् ने विचारा—ऐसे दास तो देवताओं से कहीं दर्शनीय हैं।

फिर दासियों की कमनीय मूर्तियाँ एक-एक कर वह देखता रहा। दूर देशों की नारियाँ थीं ये—केरल की, सिंहल की, सिन्ध-पंचाल की, मिश्र-यूनान की, रूम और रोम की। कुछ दान में उपलब्ध कुछ स्थल पर जातीं, कुछ महोदधि में गृहीत। केरली प्रथम दर्शन में ही दारयवहु को रुच गई।

× × ×

सम्राट् के प्रस्ताव को केरली ने ठुकरा दिया, निन्दित, घृणित कह उपेक्षित कर दिया। प्रथम तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ फिर उसने युक्ति से कार्य साधने का ठानी।

उसने कितने ही दास-दासी उसकी सेवा में नियुक्त किए, साम्राज्य की कितनी ही विभूतियाँ उसके चरणों में बिखेर दीं, पर वह उसे फिर भी जीत न सका। रानियाँ आईं उसे समझाने,

ऐश्वर्य के लोभ से उसे मनाने; परन्तु उसने अपना हठ न छोड़ा।

जब कभी सम्राट् उससे पूछता—"रानी तुझे क्या दूँ?" तब वह केवल बिलखकर कहती—सम्राट्, मुझे मेरी 'गोमेद की मुद्रिका' दे दो।" परन्तु कहाँ थी वह 'गोमेद की मुद्रिका'—दारयवहु नहीं जानता था। उसकी आज्ञा से सारा कोश देख डाला गया। सिन्धु-प्रदेश से आया धन दसों बार देखा गया, किन्तु वह 'गोमेद की मुद्रिका' न मिली। सम्राट् ने रोहिताश्‍व को बुलाकर पूछा पर उसने 'गोमेद की मुद्रिका' का नाम भी न सुना था। उसने मस्तक हिला दिया। सम्राट् बेचैन था।

वह कहता—सुन्दरि, सारा साम्राज्य तेरे चरणों पर लोटता है, तू किस 'गोमेद की मुद्रिका' की रट लगाये हुए है। कोश में मेरे और रानियों को अँगुलियों पर अनेक अमूल्य मुद्रिकाएँ हैं तू जिसे चाहे ले ले!

केरली उत्तर देती—सम्राट्, तुम्हारा सारा वैभव मेरी क्षुद्र 'गोमेद की मुद्रिका' के सम्मुख तुच्छ है।

सम्राट खिन्न हो चल देता। चलता-चलता वह सोचता—क्या है इसकी वह मुद्रिका। यदि उसका पता पा जाऊँ संसार के उस पार से मँगा दूँ। पर है क्या वह मुद्रिका? यदि कहीं सम्भव होता कि मैं अपना सारा साम्राज्य बेचकर भी वह मुद्रिका क्रय कर सकता।

२

पारस-साम्राज्य भर में, संसार के सभी नगरों में डुग्गी पिट गई—जो कोई दारयवहु की 'केरली' की अभिलषित 'गोमेद की मुद्रिका' ला देगा उसे सम्राट् मुँहमाँगा पारितोषिक देगा।

संसार के जौहरी मुद्रिका की खोज में निकल पड़े। भारत, सिंहल, चीन, मिश्र, यूनान, रोम सबकी निधियाँ एक बार उलट-पुलट गईं। "क्या है वह 'गोमेद की मुद्रिका' ?"—जौहरियों ने सोचा—"कैसी है ?" कितनों ही ने अद्भुत, अमूल्य मुद्रिकाएँ पारस के सम्राट् को दिखाईं। सम्राट् ने केरली के पास उनको भेजा, किन्तु वे उसकी अभीष्ट न थीं। उसने उन्हें फेंक दिया।

वर्ष बीत गए। केरली चिल्लाती रही। उसकी 'गोमेद की मुद्रिका' न मिली। उसने सम्राट् से कहा मुझे अब किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, मुझे मरने दें। अवधि पूरी हो गई।

दारयवहु ने उसकी बात न समझी, न उसने उसे समझाया। परन्तु सम्राट् ने अनुनय की—एक वर्ष और। 'गोमेद की मुद्रिका' खोज निकालूँगा।

केरली को भी आश्वासन मिला। फिर एक बार सभ्य संसार के नगरों में संवाद फिर गया। जौहरी खोज में फिर व्यस्त हो गए। सैनिक और राजपुरुषों ने जगत छान डाला पर 'गोमेद की मुद्रिका' न मिली।

× × ×

सिंहल का एक पोत वेग से उत्तर की ओर चला जा रहा था। यह पोत सिंहल के एक श्रेष्ठि पुत्र का था। बड़े वेग से वह इसे उत्तर की ओर लिए जा रहा था। इसमें पाँच सौ माँझी अमित वेग से डाँड़ चला रहे थे। क्षण-क्षण बाद श्रेष्ठिकुमार माँझियों को बढ़ावा दे रहा था। उसका आहार-विहार सब छूट चुका था। प्रबल वेग से वह उत्तर की ओर बढ़ता जा रहा था।

सप्ताह, मास वेग से निकल गए। केरल छूटा, अपरांत छूटा, सौराष्ट्र-सिन्धु-मुख भी छूट गए। पोत अब विशाल सागर पर लहराने लगा। उत्ताल तरंगों के भयंकर गाल में जब पोत पड़ा

होता और जब सब अपने जीवन की आशा छोड़ देते तब भी श्रेष्ठिकुमार पोत-मुखर पर खड़ा हो माँझियों का उत्साह बढ़ाया करता।

विशाल तोयनिधि का अवगाहन-सा करता पोत पारस की ओर सरका। अब कुछ ही दिनों की यात्रा और थी। माँझियों में अपने आप उत्साह भर गया, फिर श्रेष्ठिकुमार की ललकार।

तीसरे दिवस पारस की भूमि दृष्टिगोचर हुई। आनन्द से श्रेष्ठिकुमार उछल पड़ा। माँझियों ने उत्साह से डाँड़ों में हाथ लगाया। श्रेष्ठिकुमार ने भी डाँड़ पकड़ा। पोत भूमि की ओर उड़ चला। दूर, तट पर अनेक नौकाएँ, अनेक पोत मँडरा रहे थे। उनके बीच शीघ्र पहुँचना था। पोत उड़ चला।

परन्तु किसी ने न देखा कि तट की सारी नौकाएँ, सारे पोत दुर्ग के नीचे झील में चले जा रहे थे। क्यों? आकाश में मेघों का संघट्ट हो रहा था। माँझियों ने उन्हें नहीं देखा। उनके पास समय न था। श्रेष्ठिकुमार उन्हें ललकार रहा था। सिन्धु गर्जन कर रहा था। झंझावात मुँह खोले दौड़ा आ रहा था।

वर्षा प्रारम्भ हो गई। प्रभंजन का वेग बढ़ता गया। परन्तु पोत बन्दर में पहुँच ही चुका था। बस एक डाँड़ और फिर बन्दर के भीतर, दुर्ग के नीचे, आश्रय में सुरक्षित।

यकायक एक गगनचुम्बी तरंग उठी। राक्षसी थी यह तरंग। उसने उस विशाल पोत को खा लिया। बन्दर के भीतर वालों ने देखा तरंग के बीच से निकल पोत उसके मस्तक पर चढ़ बैठा। पोत डूबा न था केवल दो लहरों के मध्य हो गया था। श्रेष्ठि-कुमार अब भी माँझियों को बढ़ावा दे रहा था।

परन्तु होना कुछ और था। पीछे के कर्णधार ने जैसे ही पत-

वार को तिरछाकर पोत को एक बड़ी लहर से बचाना चाहा, पोत समीप की चट्टान से जा टकराया, प्रबल वेग से। धज्जियाँ उड़ गईं उस पोत की। लहरें थम गईं। प्रभंजन रुक गया। मेघ छँट गए। पोत को डुबाने के निमित्त ही प्रकृति की यह तत्परता थी।

दुर्ग की ओर से पारस के माँझी निकल पड़े। परन्तु अपनी तत्परता से भी वे एक प्राणी तक को न बचा सके। पारस का नौकाध्यक्ष और भूतपूर्व जलदस्यु तट पर खड़ा था। एक शव को तरंगों ने तट पर फेंक दिया। शव को उसने पहिचाना। यह वही सिंहल का श्रेष्ठिकुमार था जिसे अन्य यात्रियों के साथ उसने दो वर्ष पूर्व उनका पोत लूट बन्दी किया था।

सुन्दर श्रेष्ठिकुमार अब भी मानो जीवित था। सहसा नौका-ध्यक्ष ने उसकी अनामिका पर एक गोमेद की मुद्रिका देखी। वह उछल पड़ा। मुद्रिका लेकर वह सत्वर चल पड़ा।

भूख-प्यास भूल वह पारस पहुँचा। दारयवहु नित्य की भाँति हरम में चिन्तित बैठा था। जब नौकाध्यक्ष ने उसे मुद्रिका दी और सारी कथा सुनाई, सम्राट् को कुछ आशा हुई। वह शीघ्र केरली के समीप पहुँचा। केरली मुद्रिका की आशा छोड़ चुकी थी।

परन्तु उसे देखते ही वह उछल पड़ी।

उसने पूछा—सम्राट्, 'गोमेद की मुद्रिका' यही है पर इसका स्वामी कहाँ है?

सम्राट् ने नौकाध्यक्ष की ओर देखा। नौकाध्यक्ष ने मस्तक झुका लिया।

फिर उसने कहा—इसके स्वामी को सागर की लहरों ने खा लिया।

केरली ने सम्राट् से कहा—सम्राट् श्रेष्ठिकुमार को दस्युओं द्वारा लूटे जाने के पूर्व मैंने पतिरूप में स्वीकार किया था। वह अब न रहा।

केरली यकायक गिर पड़ी। फिर वह न उठी।

दारयवहु ने धीरे-धीरे कहा—'क्षत्रियाणां क्षत्रिय' आर्य दारयवहु के साम्राज्य-कोश में इस 'गोमेद की मुद्रिका' के मूल्य की कोई मुद्रिका नहीं।

पारस की जलदस्युता का संवाद फिर संसार ने नहीं सुना।

एथेंस का भारतीय

क्षयार्ष ज़रक्सीज़ दारयवहु का उत्तराधिकारी था। इसने भी फ़ारस-साम्राज्य का विस्तार किया था। कभी के कुरु के जीते यूनान के नगर-राज्य स्वतन्त्र हो चुके थे। इसकी आकांक्षा यूनान को फिर से जीतने की हुई और इसने अपनी एक विशाल सेना एथेंस आदि यूनानी नगरों के विरुद्ध भेजी। ग्रीक ऐतिहासिकों का कहना है कि मारदोनिअस के सेनापतित्व में जिस सेना ने यूनान पर आक्रमण किया था उसमें सैनिकों की एक टुकड़ी भारतियों की भी थी। प्लातिया के युद्ध में पराजय भारतियों के हिस्से भी पड़ी थी। इन भारतियों के बाणों की मार करारी थी और बेंत के इनके बाणों के फलक लोहे के थे। लोहे के फलकवाले बाणों का प्रयोग पश्चिम में सर्वप्रथम इसी युद्ध में पाँचवीं शती ई० पू० में भारतियों ने किया था। भारतीय धनुर्धरों के कपास की रुई के बने वस्त्रों ने भी ग्रीकों में बड़ा कुतूहल उत्पन्न किया था।

१–१०–१६४०] [रात्रि, ७.३०–१०.३०

१

दारयवहु के विस्तृत साम्राज्य के कई भागों में भारतीय सैनिक नौकर थे। परन्तु जब पारस के सम्राट् ने सिन्धु की विजय कर ली तब तो पंचनदीय भारतीयों का ईरान विशेष प्रेम-भाजन बन गया। दल के दल भारतीय योद्धा दारयवहु के उत्त-राधिकारी की सेना में भरती होने लगे।

× × × ×

क्षयार्ष की आकांक्षाएँ आकाश से बात करती थीं और जब उसका प्रभुत्व उत्तर की दुर्द्धर्ष जातियों ने मान लिया, वे और भी असंयत हो उठीं। उसने ईरानी पताका यूनान के नगर-राज्यों पर भी फहरानी चाही। उसके दस सेनापतियों ने उसकी अभि-लाषाओं को और उठाया—एशिया के देशों को कुचलकर, यूरोप पर जब तब आक्रमण करके।

पश्चिमी राष्ट्रों में यूनानियों के नगर-राज्य प्रमुख थे। क्षयार्ष ने उधर दृष्टि फेरी। मारदोनिअस ने यूनान-विजय का बीड़ा उठाया।

चुने हुए योद्धा उसकी सेना में एकत्र किए जाने लगे। भारतीय धनुर्धरों का एक विख्यात दल मारदोनिअस की ध्वजा के नीचे आ डटा। वसन्त बीत रहा था। ग्रीष्म युद्ध की सुवि-

धाएँ लिए आ रहा था। सेनापति ने सैनिकों के नाच-रंग कुछ समय के लिए बन्द कर दिए। द्राक्षासव विसर्जित हुआ। पान-भूमि की क्रीड़ाएँ केवल स्मृति में रह गईं और ईरानी विलासिनियों के कटाक्ष विस्मृत हो गए।

अब केवल सैन्य-क्षेत्र में संचालन और नियंत्रण होने लगा। वीरों के बल और दल दोनों बढ़ने लगे। मारदोनिअस नित्य सैनिकों के आवास में आता और उन्हें सब प्रकार से उत्साहित करता। स्वयं सम्राट् क्षयार्ष कभी-कभी इन विदेशी भारतीय वीरों की पीठ ठोंक जाता, उनके प्रति अपनी और ईरान की कृतज्ञता प्रकट कर जाता। भारतीय सैनिक अपनी इस प्रतिष्ठा पर गर्व करते, फूले न समाते। उत्साह से भर वे ईरान-सम्राट का जयजयकार करते।

× × ×

ईरानियों की प्रबल विजयवाहिनी चली, धरा को कम्पित करती, शत्रुओं के हृदयों में हूक उठाती। जब मारदोनिअस अपनी विपुल सेना लेकर राजधानी से निकला ईरानी बालिकाओं ने प्रासाद-पृष्ठों से सेना पर पुष्पवर्षा की। समीप के आश्रित राजा भी धीरे-धीरे बढ़ती हुई सेना से आ मिले।

विशाल ईरान-साम्राज्य को पार करने में ही मारदोनिअस को कई मास लग गए। पश्चिम की सीमा पर यूनानी नगर-राज्यों के रक्षित-राज्यों की एक बड़ी सेना ने मारदोनिअस की सेना का सामना किया। ईरानी सेना की हरावल भारतीय धनुर्धरों द्वारा बनी थी। इस हरावल के बाणों की मार से जर्जर हो शत्रु भाग चले। ईरानी सेना ने उन्हें रौंद डाला।

परन्तु यह यूनानियों की विशिष्ट सेना न थी। यह तो केवल

ईरानियों की बाढ़ रोकने और नगर-राज्यों को तैयारी का अव-काश देने के अर्थ भेजी गई थी। अब तक नगर-राज्य भी अपनी तैयारी कर चुके थे। यूनान के असाधारण योद्धाओं की एक सेना बनी थी। यह दो भागों में विभक्त थी। एक भाग ईरानियों की नौसेना से लड़ने समुद्र में उतरा था, दूसरा उनकी स्थल-सेना से लोहा लेने प्लातिया की ओर बढ़ा।

प्लातिया के सुविस्तृत रणक्षेत्र में दोनों सेनाएँ मिलीं। ईरा-नियों की हरावल भारतीय धनुर्धरों ने सम्हाली और यूनानियों की एथेंसवासियों ने।

घमासान युद्ध छिड़ गया। भारतीय धनुर्धरों ने लौह-फलकों वाले छहत्थे बाणों से विकट मार प्रारम्भ की। एथेंस वालों के वर्म छिद गए। ईरानी अश्वानीकों ने यूनानियों के वाम पार्श्व पर प्रचंड आक्रमण किया जिसका उत्तर उन्होंने ईरानियों के दक्षिण पार्श्व पर अपनी सवार सेना चढ़ा कर दिया। शवों से क्षेत्र पट गया। लहू की नदी बह चली। परन्तु हारनेवाला कौन था? ईरानी सहस्रों कोस दूर अपना देश छोड़कर आए थे पराजित हो कैसे लौटते? उधर यूनानी भूमि के अर्थ, स्वतंत्रता की रक्षा के हेतु जान लड़ा रहे थे।

तुमुल युद्ध छिड़ा था। दिनों सेनाएँ गुँथी रहतीं फिर थक-कर अपने-अपने शिविर को लौट जातीं। एक मास तक दोनों सेनाएँ शिविर में पड़ी रहीं। यूनानियों को जीवन के सिवा और किसी वस्तु की चिन्ता न थी परन्तु ईरानियों की खाद्य-सामग्री धीरे-धीरे कम हो चली। अब उन्हें विजय के अर्थ नहीं, जीवन के हेतु लड़ना था।

दूसरे दिन भारतीय हरावल ने प्रबल वेग से यूनान

हरावल पर आक्रमण किया। यूनानी हरावल टूट गयी पर उनका स्थान झट अन्य नगरों की सेनाओं ने ले लिया। भारतीय धनुर्धरों ने पुनः एक बार प्रबल आक्रमणकर एथेंस की सेना के पैर उखाड़ दिए। इसी समय ईरानी अश्वारोहियों ने यूनानी सेना के दोनों पार्श्वों पर भीषण आक्रमणकर उन्हें रौंद डाला।

परन्तु यूनानियों से मैदान लेना कुछ साधारण कार्य न था। एक-एक मृतक के स्थान पर दो-दो आ डटते थे। मृत्यु से खेलना कोई उनसे सीखता।

जब ईरानियों की प्रबल मार से यूनानियों के पार्श्व कुचल गए ठीक तभी भारतीय हरावल का नेता ईरानी पताका लिए एथेंस की सेना में पिल पड़ा। उसकी सेना असि लेकर शत्रु के हरावल पर फिर टूटी।

इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिसने रण का पासा पलट दिया। सामुद्रिक युद्ध में यूनानियों ने ईरानियों के सारे पोत डुबा दिए और झट स्थल-सेना में परिवर्तित हो उन्होंने ईरानी स्थल सेना पर पीछे से आक्रमण किया। ईरानी सेना का व्यूह टूट गया। मैदान शवों से पट गया। भारतीय हरावल मारदोनिअस की अध्यक्षता में लड़ती रही। उसके नेता ने वीरगति पाई। उसके कर से एथेंस की सेना ने ईरानी पताका छीन ली।

मारदोनिअस बन्दी हुआ और साथ ही भारतीय सेना भी बँध गई।

२

भारतीय गृहीत-सैनिक एथेंस के श्रीमानों के दास हुए। युद्ध के बन्दियों का यूनान में यही दंड था। सैकड़ों ईरानी और भारतीय एथेंस में दासत्व की शृंखला में बँध गए।

भारतीय दासों के श्वेत रुई के बने वस्त्रों पर एथेंसवासी चकित दृष्टि डालते। कितनों ने उनके वस्त्र छीन लिए। उनके लक्ष्यवेध की प्रशंसा सारे नगर में होती। फिर भी उनके साथ अन्य दासों की भाँति उनके प्रभुओं का नृशंस व्यवहार होता। कुछ भारतीय उसे सहन न कर सकने के कारण तलवार के घाट भी उतारे गए।

फिर भी इन अभागों के लिए भी कुछ हृदय द्रवित होते थे— ये थे एथेंस की नागरिकाओं के। उनके विलासी नेत्रों ने अपने प्रसार से भारतीयों का वक्ष नापा, ऊँचाई देखी, शक्ति आँकी और वे मुग्ध हो गए। जब कभी एकान्त में सुविधा होती ये नागरिकाएँ इन अभागे विदेशियों पर अपना अनुराग अर्पण कर देतीं। ऐसे ही भाग्यवान दासों में कुम रैवतक भी था। वह एथेंस के सेनापति के भाग में पड़ा था। उसकी शक्ति देख-कर सेनापति ने उसे दासों का नायक बना उनसे काम लेने के कार्य पर नियुक्त किया था।

उसे सेनापति की कठोर आज्ञा थी कि कोई दास व्यर्थ बैठने न पाए और उनसे कठोरता का व्यवहार किया जाय। पर यह रैवतक से संभव नहीं था। दासों में कई भारतीय भी थे। रैवतक उनपर हाथ नहीं उठा सकता था। एक दिन जब सेनापति लौटा उसने रैवतक को अपनी कन्या से हँस-हँसकर बातें करते देखा।

उसकी कन्या सुन्दरी मीडिया एथेंस के युवकों के हृदय की रानी थी। उसकी प्रतिमूर्तियों से एथेंस का बाजार भरा था। वह रैवतक को हृदय से चाहती थी। मातृहीना कन्या से उसका पिता प्राणों से बढ़कर स्नेह करता था। जब वह बाहर चला जाता मीडिया रैवतक से लिपट-लिपट खेलती। जब सेनापति ने रैवतक को इस प्रकार मीडिया से हँस-हँसकर बातें करते

देखा उसके क्रोध की मात्रा चरम हो गई। उसने अपने अश्व से रैवतक का दाहिना पाँव कुचल डाला और लगा उस पर कोड़ों की वर्षा करने। यदि सेनापति उसकी प्रेयसी का पिता न होता तो रैवतक उसे मार डालता। उसने सेनापति के कर से कशा छीन कर तोड़ फेंकी।

सेनापति ने क्रोध को पीकर जब प्रासाद में प्रवेश किया मीडिया आगे की विपत्ति की कल्पना कर काँप रही थी। उसने, खिड़की से रैवतक को संकेत किया—'भाग जाओ'। पर रैवतक भाग कर कहाँ जा सकता था, फिर मीडिया को छोड़ कर कहीं जाना उसके लिए असंभव था। वह रुका रहा।

सैनिकों ने रैवतक को बाँध लिया। वह जानता था कि उसका दंड मृत्यु है। मीडिया भी इससे पूर्णतया अवगत थी। जब सेनापति ने न्यायाधीशों से अपने दास को प्राणदंड देने की व्यवस्था माँगी तो उन्होंने डेल्फी के ओरैकिल—देवी की वाणी—का सहारा लिया। सारे एथेंस ने सुन रखा था कि भारतीय सिंह से मल्लयुद्ध लड़ते हैं। ओरैकिल ने कहा—"दास भूखे सिंह के सम्मुख छोड़ दिया जाय।" यह व्यवस्था सबकी जानी थी, सबकी प्रिय।

× × ×

एथेंस के 'ओलिंपिक'—खेल वाले—मैदान में मंचों पर नागरिक बैठे थे। सेनापति भी था, उसकी कन्या मीडिया भी थी। रैवतक नीचे 'अरेना' में सिंह के कटघरे के सम्मुख वाले कटघरे में था।

बड़ी उत्सुकता थी, बड़ी व्यग्रता। पशु-मानव-युद्ध बड़े कुतूहल का था। नर-नारी सतर्क बैठे थे। अकस्मात् रैवतक का लौहद्वार खुला। वह प्रांगण में उतर आया। सामने मीडिया बैठी थी,

पिता के पार्श्व में। रैवतक के रोम-रोम में शक्ति भर गई, उत्साह बस गया। वह शांत-गंभीर हो सिंह के द्वार की ओर मुख कर खड़ा हो गया।

धीरे-धीरे सिंह-द्वार के सींकचे ऊपर से खींच लिए गए। चार दिन का भूखा सिंह मानव आखेट को देख उसकी ओर लपका। भूख से उसकी कोख भीतर धँस गई थी। उसने पलक मारते रैवतक पर आक्रमण किया। रैवतक ने पैंतरा बदलकर वार खाली किया।

मानव-पिशाच ऊपर से देख रहे थे। उनके लिए यह एक मनोविनोद था। उनकी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी।

सिंह ने फिर चोट की। रैवतक फिर बाल-बाल बच गया। सिंह गर्जा। इस बार उसने दाढ़ों को खोल कर पंजों का कठिन प्रहार किया। भरपूर पंजा रैवतक के वाम स्कंध पर पड़ा और उसका स्कंध-भाग लहूलुहान हो गया। परन्तु रैवतक को उसकी चिन्ता न थी। उसे कदाचित उस आघात का पता भी न चला। वह सिंह के अगले आक्रमण की बात सोचने लगा।

मीडिया ने उसका व्रण देख चिल्ला कर नेत्र बन्द कर लिए। सारा एथेंस आनन्दपूर्वक यह खेल देख रहा था। कुतूहल था, परन्तु दया न थी। थी भी तो कदाचित पशु के प्रति। लोग सोच रहे थे सिंह का वार कहीं खाली न जाय।

रैवतक भी जान पर खेल रहा था। पशु पीछे हट कुछ झुका फिर उसने अपनी पूँछ पटकी। अभी पूँछ पटकने की ध्वनि मरी न थी कि उसका फुर्तीला शरीर हवा में यकायक उठ कर रैवतक पर फिर टूटा। सचेत रैवतक प्रतीक्षा कर रहा था। उसने सम्हल कर शक्ति भर घूँसा मारा, पशु चीत्कार कर दूर जा रहा।

मीडिया का हृदय संशय और आतंक की दोला में झूलने

लगा। लोग डरते थे कहीं रैवतक बच कर निकल न जाय। मानव मानव का शत्रु था।

सिंह फिर उठा। उसने अबकी आक्रमण नहीं किया। वह लगा रैवतक का चक्कर काटने। रैवतक भी उसकी ओर मुँह कर घूमने लगा। सहसा सिंह ने पूँछ पटकी। रैवतक सध कर खड़ा हो गया—अन्तिम युद्ध के लिए।

पशु वायु में फिर उठा। परन्तु इस बार रैवतक ने उसे अवकाश न दिया। वह पलक मारते सिंह के पेट के नीचे जा पहुँचा और उसने पशु के पिछले पाँव दोनों करों में पकड़ लिए। फिर अवकाश न दे वह लगा उसे बलपूर्वक घुमाने। दर्शक भाग चले—कहीं वह उसे उनके बीच न फेंक दें। रैवतक को एक बार ऐसी इच्छा भी हुई परन्तु उसने अपने को रोका। वह सिंह को कुछ देर तक घुमाता रहा फिर उसे बलपूर्वक पकड़ उसने पृथ्वी पर दे पटका। सिंह का माथा फट गया और वह पृथ्वी से चिमट गया। रैवतक ने उसे खोदा पर उसने अपनी पूँछ और दबा ली।

पशु हार गया। परन्तु मनुष्य न हारा। उसने रैवतक पर पत्थर फेंके और मीडिया ने फूल।

एथेंस के नियमानुसार वह स्वतंन्त्र हो गया। परन्तु उसका शत्रु मनुष्य था, पशु नहीं। उसे विकराल मानव-पशु से अभी बचना था। मीडिया के अनेक सम्भावित वर थे। उन्होंने रैवतक का अन्त करने की ठानी।

२

जब अश्वों पर मीडिया के साथ जाते रैवतक पर उसके प्रतिस्पर्धियों ने अचानक आक्रमण किया, उसने भी आत्मरक्षा में उन पर खड्ग चलाया। उसके सिर में कड़ी चोट आई।

रक्त प्रवाहित होने लगा। अकेला युद्ध निरर्थक विचार मीडिया को समुद्र की ओर भागने का संकेत कर वह स्वयं भी उसी ओर भागा। दोनों अश्व उड़ चले। औरों ने पीछा किया। द्रुत वेग से।

मीडिया समझ गई। वह तट की एक नौका पर चढ़ गई। उसने उसे खोल दिया। मीडिया को अवकाश देने के लिए रैवतक शत्रुओं से लड़ रहा था। अब वह समुद्र में कूद पड़ा और मीडिया की नौका की ओर तैर चला। शत्रुओं ने उसका पीछा किया।

मीडिया की सहायता से रैवतक शीघ्र उसकी नौका पर चढ़ गया परन्तु उसके शत्रु भी उनसे दूर न थे। रैवतक अद्भुत वेग से डाँड़ चला रहा था और उसके सिर का रक्त मीडिया पोंछती जा रही थी। परन्तु रक्त का वेग न थमा, न शत्रुओं की नौकाओं का ही। रैवतक देर तक अपने को न सम्हाल सका। धीरे धीरे चेतनाहीन हो वह मीडिया की गोद में जा गिरा। शत्रु अब कुछ ही दूर रह गए थे।

मीडिया ने बस एक उपाय देखा। वह रैवतक को नौका के कर्ण पर खींच ले गई और उसे लेकर समुद्र में कूद पड़ी। शत्रुओं ने आश्चर्यपूर्वक देखा—सागर में कुछ वृत्ताकार रेखाएँ उठीं फिर विलीन हो गईं।

वितस्ता के तट पर

[पूर्वविजयी मेसिडन के अलेग्ज़ेंडर (सिकन्दर) ने ३२६ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया परन्तु वह विपाशा (व्यास) से पूर्व नहीं बढ़ सका था। एरियन लिखता है कि उससे चन्द्रगुप्त मिला था और उसने उसे नन्द के साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए उकसाया भी था। प्रस्तुत कहानी का विषय सिकन्दर और पोरस का युद्ध है जो झेलम के तट पर हुआ था। अलेग्ज़ेंडर का भारतीय रूपान्तर अलिकसुन्दर है जो हमें अशोक के पाली शिलालेख (तेरहवें) से उपलब्ध होता है। अशोक के पाँच समकालीन यूरोपियन राजाओं में से एक का नाम अलेग्ज़ेंडर था जो एपिरस का राजा था।]

२—१०— १६४०.] [रात्रि, ७. ३०—११

१

मकदूनिया के बर्बर फ़िलिप ने यूनान के नगर-राज्यों को कुचल डाला। जब वह अन्तिम युद्ध से विजयी हो लौटा उसका बेटा अलिकसुन्दर मुरझाया बैठा था। उसे चिन्तित देख गुरु अरस्तू ने पूछा—अलिकसुन्दर, खिन्न क्यों बैठे हो ?

युवा सरोष बोला—यदि पिता की विजयों का ऐसा ही ताँता रहा तो मेरी विजय के लिए क्या बच रहेगा ?

फिर वह थकायक उठा। उसने साईस के हाथ से पिता का उत्तुंग तुरग छीन लिया। फिर वह उस पर चढ़ कर लगा उसे वायु-वेग से दौड़ाने। सिवा फ़िलिप के इस घोड़े पर कोई और सवार न हो सकता था। अश्व किसी को अंगीकार न करता था परन्तु इस ओजस्वी युवा के पुट्ठों में भी प्रचुर शक्ति थी। सामने के मैदान में अलिकसुन्दर अश्व को तब तक वेग से दौड़ाता रहा जब तक दोनों स्वेद से नहा न गए।

× × × ×

अलिकसुन्दर का वेग प्रभंजन का था। उसके सम्मुख राज्य उड़ गए, साम्राज्य उखड़ गए। मिस्र के राजाओं का विशाल पुस्तकालय अग्नि की लपटों के भीतर समा गया, मासों जलता रहा।

और वह कुरु का खड़ा किया विशाल पारस-साम्राज्य काँप कर गिर पड़ा विक्रान्त विजयी के चरणों में। सुग्ध के युद्ध में अलिकसुन्दर ने त्तयार्ष के यनान पर आक्रमण का बदला फेर दिया। दारयवहु (द्वितीय) बह्लीक के उत्तरी पर्वतों में जा छिपा। पारसपुर के राजप्रासाद, शूषा और एकबताना की प्रस्तर-कला ग्रीकों के हथौड़ों से चूर चूर हो गई।

हिन्दूकुश पार हो गया विक्रान्त यवन। स्वात और बाजोर के राज्य ध्वस्त हो गए। मस्सग के नर-नारी बाल-वृद्ध एक एक ने युद्ध ठाना। एक एक मारा गया। ओलिम्पिक के खेल पर्वतों में होते रहे। तक्षशिला के अधिपति पौरव के शत्रु आम्भी ने दूतों द्वारा धन और स्वातन्त्र्य भेजा। अलिकसुन्दर ने पौरव को आत्मसमर्पण कर देने को कहलाया। मनस्वी केकयराज ने उत्तर में कहला भेजा—वह उद्दंड यवन की वितस्ता के तट पर प्रतीक्षा करेगा।

दुर्दान्त सामरिक विश्वविजयी की भौंहें तन गईं। "विशाल पारस-साम्राज्य जिसकी चोटों से टुकड़े-टुकड़े हो गया उसके सामने क्षुद्र कैकेय का यह साहस?" उसने विचारा। उसने दाँत पीस लिए। फिर वह धीरे धीरे बोला—अच्छा, 'वितस्ता के तट पर।'

२

ग्रीष्म की प्रचंड लू से पंचनद के मैदान झुलस रहे थे। वितस्ता के पश्चिम तट पर अलिकसुन्दर और उसके दुर्द्धर्ष योद्धा स्कन्धावारों में पड़े थे—सुयोग की प्रतीक्षा में।

इस पार केकय का एकवीर पौरव अपनी सेना लिए विदेशी

की गति-विधि लक्ष्य कर रहा था। विजयी ग्रीक से दो-दो हाथ लेने के लिए उसकी भुजाएँ फड़क रही थीं।

दोनों सेनाएँ नदी के तटों पर अपने अपने स्कन्धावार में पड़ी थीं। दोनों की दृष्टि परस्पर मिली। महीनों सेनाएँ बैठी रहीं—यवनों की सुयोग की प्रतीक्षा में, भारतीयों की सतर्क।

नित्य सारा दिन सारी रात ग्रीकों की नौकाएँ वितस्ता के ऊपर-नीचे जल की गहराई नापती फिरतीं, पार जाने की सुविधा के लिए। सुविधा मिली, सुयोग आया। निदाघ का ताप द्रवित हुआ। आकाश में मेघ मँड़राने लगे। रात्रि की नीरवता में अलिकसुन्दर के माँझियों ने उपयुक्त स्थल ढूँढ़ निकाला।

वितस्ता में चढ़ाव पर आठ कोस ऊपर जल कुछ कम था। जहाँ वितस्ता की धारा टूट कर दक्षिण ओर बहती थी वहीं उसके मोड़ में वनों से ढका एक छोटा सा द्वीप था। अलिक-सुन्दर ने अपना कार्यक्रम स्थिर कर लिया। उसके ललाट की रेखाएँ कुछ मिट गईं।

ग्रीकों के स्कन्धावार में रसद जुटाई जाने लगी। समीप के गाँवों से महीनों की खाद्य-सामग्री उनके शिविरों में आने लगी। इस पार के शिविरों में संवाद आया—विदेशी सामग्री संचय कर रहा है, वह अभी रुकेगा, कदाचित वर्षा भर। उनमें कुछ निश्चिन्तता आई।

× × ×

धीरे-धीरे मेघों ने आकाश को ढक लिया। रात्रि के अन्ध-कार में मेघों की घनता ने वितस्ता के प्रवाह पर भारी परदा डाल दिया था। कई दिनों से ग्रीक स्कंधावार में नाच-रंग हो

रहा था। विविध प्रकार के उत्सव मनाए जा रहे थे। दिन भर खेल होते रात्रि में गायन।

आज इस अन्धकार में जलवृष्टि भी प्रारम्भ हो गई। वितस्ता पहले से भरी थी, पर्वत का हिम गल रहा था। इसी समय चुनी हुई बीस सहस्र अश्वारोही, पदाति और धनुर्धरों की सेना लेकर अलिकसुन्दर नदी के ऊपर की ओर चल पड़ा, तट से कुछ दूर, दूर झाड़ियों की आड़ में।

ग्रीक स्कन्धावार में पाँच सहस्र सेना के साथ क्रातेरस आदेश की प्रतीक्षा में बैठा रहा। उसे आज्ञा थी कि जब अलिकसुन्दर अपनी सेना लेकर नेत्रों से ओझल हो जाय वह उस पार की भारतीय सेना का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करे।

सहसा ग्रीक शिविरों में प्रदीप प्रज्वलित हो उठे। गणिकाएँ नाच उठीं। रंग जम गया। समीप के गाँवों से बलपूर्वक लाई हुई नारियों के साथ ग्रीक सैनिक सामने के विशाल शिविर में क्रीड़ा करने लगे। दो सहस्र सैनिकों की टुकड़ी क्रातेरस के सामने तुमुल नाद करने लगी। उस पार की भारतीय सेना ने जाना ग्रीक विलास में तल्लीन हैं।

परन्तु यह प्रवंचना थी। अलिकसुन्दर गरजते बादलों की छाया में मनवांछित स्थल पर जा पहुँचा। बेड़े तैयार थे। सिन्धु की नौकाओं ने आज फिर सहायता की। ग्रीकों की सेना वितस्ता के मध्य के वन-द्वीप पर जा उतरी। परन्तु वहाँ उतर कर प्रातःकाल के अँधियारे में उसने देखा यह तट नहीं है और अभी एक और गहरी धारा पार करनी है। इसी समय दूर की पौरव सेना ने विद्युत के प्रकाश में ग्रीकों के चमकते पीतल के टोपों को देखा। अलिकसुन्दर और ग्रीक स्कन्धावार के बीच

स्थान-स्थान पर तीन सेनापति अपनी अपनी सेनाएँ लिए आदेश की प्रतीक्षा में खड़े थे। मिलीगर बीच में था।

पौरव का पुत्र दो सहस्र अश्वानीक और कुछ रथसेना लेकर दुर्दान्त विदेशी की ओर बढ़ा। इसी समय वक्ष तक जल में हलते हुए पदाति और तैरती हुई अश्वारोही सेना जल गारती तट पर आ खड़ी हुई।

उधर क्रातेरस ने अपने शिविरों में और अधिक हल्ला मचाना आरम्भ कर दिया। पौरव अब भी सम्मुख तट के पार के स्कन्धावार को ही ग्रीकों का मुख्य भाग समझ तट की रक्षा में बैठा रहा। क्रातेरस आज्ञा की प्रतीक्षा में था। उसे आदेश था कि जब भारतीय सेना युद्ध में पूर्णतया संलग्न हो जाय, वह उस पार उतर कर उस पर आक्रमण करे।

पौरव का पुत्र मुट्ठी भर सेना के साथ ग्रीकों की वीरवाहिनी पर टूट पड़ा। कोइनस ने उसे कुचल डाला। उसका एक-एक सैनिक मारा गया।

× × × ×

पिता क्रोध से तमतमा उठा। चला वह अलिकसुन्दर की सेना की ओर अपनी विशाल सेना के साथ। हयदल, रथदल, अश्वानीक, पदाति वेग से नई रणभूमि की ओर बढ़ चले। यवनराज अपना व्यूह रचे पौरव की प्रतीक्षा में खड़ा था। उसकी दाहिनी ओर कोइनस था।

पौरव ने भी अपनी सेना का व्यूह रचा। दो सौ विशाल गज पचास-पचास पगों की दूरी पर सम्मुख हरावल में खड़े हुए। दोनों पार्श्व में चार सहस्र अश्वारोही सामने तीन सहस्र रथों को खड़ा कर डट गए। पीछे और बीच में पदाति धनुर्धर तूणीर बाँधे, असि और भाले लिए आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगे।

व्यूह दुर्ग की भाँति दिखाई देने लगा और गज प्राचीर-स्तम्भों की भाँति।

विदेशी ने अपने कई सेनानायकों को छः सहस्र पदाति सेना ले रणक्षेत्र से पृथक प्रतीक्षा करने की आज्ञा दी और अपने एक सहस्र अश्वारोही धनुर्धरों को नदी तट से लगी भारतीय सेना के वाम स्कन्ध पर आक्रमण करने का संकेत किया। धनुर्धरों ने प्रबल आक्रमण किया और अलिकसुन्दर स्वयं अपनी रक्षक सेना के साथ उसी पार्श्व पर टूट पड़ा। भारतीय अश्वारोही सेना का दक्षिण स्कन्ध पीछे से होकर वामस्कन्ध की सहायता को दौड़ा। इसी समय कोइनस अपने सवारों को ले पौरव की सेना के दक्षिण स्कन्ध का वेग से चक्कर काट उसके अश्वारोही और रथ-सेना के पश्चात् भाग पर टूट पड़ा। जब भारतीय सेना पश्चात् के आक्रमण का सामना करने के लिए पीछे को मुड़ने लगी उसकी विनय-स्थिति बिगड़ गई। सैन्य-संचालन कुछ कठिन हो उठा। व्यूह टूट गया। यवन-योद्धा ने मौका चूकना न जाना था। उसने घोड़े फिराते सवारों के पृष्ठ भाग पर भरपूर चोट की। वह ठीक बैठी। भारतीय पंक्तियों के दोनों स्कंध टूट गए और दोनों ही रक्षा के निमित्त गजों के संघट्ट में भागे। रथ व्यर्थ हो चले, उनके चक्के भींगी पृथ्वी में धँसे जा रहे थे।

पौरव और टिथोनस लड़ते-लड़ते खुले मैदान में निकल आये थे। टिथोनस ने दूर से पौरव पर बरछे का वार किया था। दोनों एक दूसरे को ललकारते हुए योद्धाओं के संघट्ट से मैदान में एक ओर निकल आए। दोनों वेग से एक दूसरे पर भल्लों की चोट कर रहे थे। दोनों शक्तिशाली थे। परन्तु दोनों में अन्तर भी था। ओलिम्पिक खेलों का एकमात्र नायक, शूषा का विजेता टिथोनस अभी युवा था, पौरव प्रौढ़, उसके पिता की आयु का।

परन्तु पुत्र की मृत्यु ने उसमें अद्भुत शक्ति भर दी थी। उसके विशाल दैत्य सरीखे शरीर से अलिकसुन्दर के प्रमुख सेना-पति दूर ही दूर रहते थे। स्वयं यवनराज कई बार पैंतरे बदल उसके सामने से हट चुका था। केवल टिथोनस अपने जीवन से खेल रहा था, उसे हथेली पर लिए। दोनों पक्ष स्तम्भित-से हो उनका युद्ध क्षण भर देखते रहे। स्वयं अलिकसुन्दर कैकेय की इस मार से आकुल, चिन्तित हो उठा। कोइनस काँप गया। योद्धाओं के भल्ल हवा में उठे ही रह गए, धनुर्धरों की अँगुलियाँ तूणीरों से चिपकी रह गई। इसी समय पौरव का घातक बरछा चमका रक्त रवि की किरणों के स्पर्श से, ऊपर उठा और सहसा टिथोनस के वामस्कन्ध में प्रवेश कर दक्षिण कुक्षि को विदीर्ण करता बाहर निकल आया। टिथोनस के गिरते ही अलिकसुन्दर जैसे सोते से जगा। उसके संकेत से सौ अश्वारोहियों ने एक साथ पौरव पर तलवार से आक्रमण किया। रणमत्त पौरव जूझने को तत्पर था, उनसे जा भिड़ा। लोहे से लोहा बज उठा। उसकी ओर के घुड़सवार भी व्यूह छोड़ उसकी रक्षा के अर्थ दौड़ पड़े।

भयानक तत्परता से पौरव की लम्बी असि चलने लगी। जो उसके सम्मुख आया मारा गया। शवों से उसके सामने का मैदान पट चला। उसी समय एक ग्रीक सैनिक का फेंका बाण पौरव की कोख में लगा पर रणमत्त योद्धा इस समय चोटों का जैसे मित्र था। उसके ऊपर उनका प्रभाव न होता था।

क्रोध और आकुलता से यवनराज भर गया। पाँच सौ चुने सवारों के साथ उसने पौरव पर आक्रमण किया। पौरव ने भी अपना भाला सम्हाला। तौल कर जो उसने भाला मारा वह अलिकसुन्दर की बाईं रान के समीप घोड़े के पेट पर भर पूर

बैठा। घोड़ा अपने स्वामी को लिए धीरे-धीरे बैठ गया। पौरव ने भाला फिर सम्हाला। यवन और भारतीय सैनिक, पदाति और अश्वारोही घमासान युद्ध कर रहे थे। जैसे ही पुत्र का बदला फेरने के लिए पौरव ने भाला उठाया उसके रक्षकों के बीच से फेंका हुआ आम्भी का भाला उसके स्कन्ध में लगा। पर घाव सांघातिक न था।

अलिकसुन्दर बाल-बाल बच गया था। घोड़ा बदलने के अर्थ वह पीछे हटा। पौरव भी पीछे हट गजों के संघट्ट में जा पहुँचा। घावों की पीड़ा से वह व्याकुल था। उसे अब हौदे के अवलम्ब की आवश्यकता थी।

यवनराज कुपित था, क्रोध से अन्धा। परन्तु पारस-साम्राज्य के विजेता उस दुर्द्धर्ष ग्रीक में अद्भुत क्षमता थी। हृदय को उसने संयत किया। उसने जाना कि सम्मुख समर में पौरव को जीतना संभव नहीं। अब उसने नीति का अवलम्बन किया। सौ सधे धनुर्धरों को दूर से गजों के नेत्रों में बाण मारने की उसने आज्ञा दी। नेत्रों के बिंध जाने से गज चिग्घाड़ते हुए भभर कर भागे, शत्रु-मित्रों को क्रोधपूर्वक कुचलते। भारतीय सेना व्याकुल हो उठी। अपने ही गजों से वह कुचलने लगी। पौरव का गज भी पीड़ा से अन्धा हो भाग चला।

इसी समय घोड़े पर चढ़े आम्भी ने पौरव को पुकार कर अलिकसुन्दर का संदेश सुनाया। कैकेय ने अपने शत्रु पर भाले से प्रबल आक्रमण किया। वार खाली गया और वेग के कारण हौदे के साथ ही पौरव भी नीचे आ गिरा। व्रणों से रक्तप्रवाह निरंतर हो रहा था। अब शक्ति के अत्यधिक क्षय हो जाने से गिरते ही पौरव संज्ञाहीन हो गया।

यवन पक्ष के कितने ही योद्धा और आम्भी उसका अन्त कर

देने के लिए दौड़े परन्तु वीरपुंगव अलिकसुन्दर चिल्लाता हुआ स्वयं उधर दौड़ पड़ा। वीर को जीवित पकड़ कर प्राणदान देना उसने अधिक उत्तम समझा। रक्तरंजित पौरव को ग्रीक सैनिक अपने शिविर में उठा ले गए।

इधर कोइनस ने अपने अश्वानीकों के साथ भारतियों पर फिर आक्रमण किया। मरती हुई भारतीय सेना फिर एक बार ग्रीकों की वाहिनी से गुँथ गई। इसी समय क्रातेरस, मिलीगर और अन्य सेनानायकों ने वितस्ता पार कर भीषण आक्रमण किया। जिन सेनानायकों को यवनराज ने युद्धक्षेत्र से आज्ञा की प्रतीक्षा करने के अर्थ विलग कर रखा था, अब वे भी उसका संकेत पा ग्रीकों की नई सेनाओं से आ मिले।

भारतीय सेना का वीर सेनापति कैकेय पौरव गिर चुका था। सैन्य-संचालन दूर की बात थी। अब योद्धाओं का व्यक्तिगत रूप से लड़ना भी कठिन था। परन्तु भागते गजों के बीच से निकल निकल उन्हीं की रौंद से आकुल भारतीय योद्धा खुले मैदान का आश्रय किए यवनों से जान रहते लोहा लेता रहा।

परन्तु इस समय भारतीय आकाश की मूर्धा पर सूर्य की भाँति ही अलिकसुन्दर का शौर्य भी तप रहा था।

अलिकसुन्दर ने पारस-साम्राज्य-से विशाल साम्राज्यों को जीता था परन्तु जितना सुख उसे इस छोटे से राज्य के अधिपति पौरव को जीत कर हुआ पहले कभी न हुआ था। उसने अपने सैनिकों को उत्सव करने की अनुमति दी।

ग्रीक स्कंधावार में विविध प्रकार के उत्सवों का तुमुल नाद होने लगा। ओलिम्पिक के खेल, नाच-रंग होने लगे। परन्तु अलिकसुन्दर इनमें न था। वह अपने शिविर में धीरे-धीरे

टहल रहा था। विजय के हर्ष के साथ ही साथ एक प्रकार क अनजाना त्रास उसके हृदय को शंकित कर रहा था, खेलों में योग देने से वंचित कर रहा था। "यदि भारत की देहली पर ही" वह विचारता, "इस छोटे से राज्य ने यह टक्कर ली तो आगे नन्द-साम्राज्य की शक्ति का सामना कैसे कर सकूँगा ?" भय का लेश जिसने कभी न जाना था, पारस-साम्राज्य को जिसने कुछ ही धक्कों से गिरा दिया था उस विश्वविजेता की बाढ़ वितस्ता के तट पर रुक गई।

"यदि कहीं पारस विजयी होता ?" उसने फिर अपने आप से पूछा—"तब ?" "तब"—उसने स्वयं कहा—"ग्रीकों के मुँह पर कालिख पुत जाती। संसार की विजय पराजय में परिणत हो जाती।" वह काँप उठा।

उसने घुटने टेक दिए। नेत्रों में आँसू भरे उसने देवताओं को धन्यवाद दिया जिन्होंने कृपा कर पौरव के रथों को व्यर्थ कर दिया था, उनके चक्के पंक में धँसा दिए थे।

वह यकायक बाहर निकल आया। द्वार पर उसके सेना-नायक खड़े थे। सामने मैदान में उत्सव मनाए जा रहे थे जहाँ छोटे-छोटे कुरते पहिने सुपुष्टांग दीर्घकाय ग्रीक सैनिक खेलों में व्यस्त थे। इस युद्ध का प्रमुख विजेता कोइनस था। आज का उत्सव उसी के नाम पर था। उसी की पूजा हो रही थी। अलिकसुन्दर ने उत्सव-व्यसन बन्द कर दिए। अब उसने देव-ताओं की पूजा का आयोजन किया। नई बलिवेदियों पर अनेक पशु बलि दिए गए। कई दिनों तक जुपिटर, जीयस, अपोलो और एथेनी की पूजा होती रही और वह दुर्दान्त विजेता अपने को तुच्छ मान देवताओं की प्रार्थना करता रहा।

किसी ने उसके भीतर के उठते और लय होते विचारों का मर्म न जाना।

× × ×

पूजाओं से शान्ति और शक्ति लाभ कर अलिकसुन्दर ने दरबार किया। उसके दोनों ओर सुविस्तृत ग्रीक साम्राज्य के दुर्द्धर्ष सेनानायक अपने छोटे कुरते और पीतल के चमकते ऊँचे शिरस्त्राण पहिने, ऊँचे भाले लिए, पंक्ति बाँध खड़े हुए—हेफ़े स्तियन, सिल्यूकस पर्दिक्कस, तालेमी, कोइनस, क्रातेरस, मिली-गर, फ़िलिप्पस, पिउकेस्तस, लिओनेत्तस, एग्रिअस, नियरकस, आम्भी। उसके पीछे विक्रान्त शरीर-रक्षक खड़े थे। और सामने खुले मैदान में विशाल ग्रीक सेना भाले लिए खड़ी थी। उनके ऊँचे टोपों और चौड़े वक्षत्राणों को आज कई दिनों के बाद निकला सूर्य चमका रहा था। अलिकसुन्दर स्वयं ग्रीक कुरता पहिने और अपना विख्यात व्याघ्रमुख वाला टोप धारण किए स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान था।

इस ऐश्वर्यमय समारोह के बीच उसने पौरव को बुला भेजा। वह जानता था कि बन्दी का हृदय अभी विजित नहीं हुआ। पर अवश्य ग्रीक शिविर का वैभव और उसकी शक्ति देख वह सहम जाएगा, आतंक से भर जाएगा।

बन्दी आया—विशालकाय बन्दी, साढ़े चार हाथ का ऊँचा नर-पुंगव, धीरे-धीरे ग्रीक सैनिकों से घिरा, सेनाओं के मध्य होता। अलिकसुन्दर कुछ गम्भीर हो बैठा, उसके सेनानायक स्थिर हो रहे। परन्तु विजेता ने विजित के मुख पर वे चिह्न न देखे जिनकी उसे आशा थी और जिनके लिए यह समारोह रचा गया था। बन्दी न सहमा, उसके मुख पर आतंक के चिह्न न दिखाई दिए।

अलिकसुन्दर विचारने लगा—वह किस प्रकार उससे मिले। बन्दी ने किसी की ओर नहीं देखा। केवल उन्नत मस्तक किए विजेता के नेत्रों से अपने नेत्र मिला वह चुपचाप खड़ा हो गया। विजेता उसका विशाल शरीर देख चकित रह गया। उसने अपने सेनानायकों की ओर फिर कर देखा—कोई उतना ऊँचा न था।

अलिकसुन्दर ने सहसा पूछा—पोरस, तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय?

उसका प्रश्न पूरा होते न होते उत्तर मिला—जैसा राजा राजा के साथ करता है!

चकित विजेता ने अपने सेनानायकों पर भावभरी दृष्टि डाली। अभी राजा 'राजा' था, उसका हृदय नहीं हारा था। ऐसा उत्तर ग्रीक संसार से बाहर अलिकसुन्दर ने कभी न सुना था—उस सुविस्तृति विजय-भूमि में जो अब 'हेल्लेस्पांट' से 'हाइफेसिस' तक फैली थी। विजेता वीर था। उसका वीर-हृदय प्रसन्न हो उठा।

वह आसन छोड़ उठा और धीरे-धीरे बन्दी के समीप जा खड़ा हुआ। विशालकाय बन्दी के कान तक ही विजेता का व्याघ्रटोप पहुँच सका। उसने देखा बन्दी उससे कितना ऊँचा था!

बन्दी का कन्धा ठोंक उसने कहा—पोरस, तुम वीर हो। तुम्हारे साथ मैं वह व्यवहार करूँगा जो राजा राजा के साथ करता है।

फिर उसने सेनानायकों की ओर देख पौरव-विजेता कोइ-नस को लक्ष्य कर कहा—कोइनस, पोरस राजा है।

फिर उसकी दृष्टि आम्भी पर पड़ी। आम्भी नतमस्तक हो अपने को कोस रहा था।

ग्रीक लौटे

[प्रस्तुत कहानी के ग्रीक सेनानायकों के नाम ऐतिहासिक हैं और सैनिकों के कल्पित। ग्रीक लोग पौरव को पोरस, नन्द को जैन्द्रमस और पाटलिपुत्र को पालिब्रोथ्रा कहते थे। समय—चौथी शती ई० पू०।]

५—१०—४०] [प्रातः, ७—१०

९

"आह, हेलेन, तुम्हारे लिए मैंने क्या नहीं किया था ?" हृदय की वेदना अधीर हो कंठ से फूट पड़ी।

"देखो, माइकस, उसे अब भूल जाओ। जीवन में इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं। स्वदेश से इतनी दूर होकर हमें संयम और आंतरिक शक्ति से काम लेना होगा।" अपोलोदोतस ने धीरे धीरे माइकस को समझाया।

"परन्तु इस प्रकार कैसे, कब तक चलेगा, अपोलोदोतस ?" समीप बैठे एक तीसरे सैनिक ने अपने केश-पट्ट से केशों को सम्हालते हुए पूछा।

अपोलोदोतस स्वयं चिन्तित था, चुप हो रहा।

मेरो ने भाले के ऊपर अपना भार डालते हुए कुछ और तिरछे होकर कहा—बोलो, अपोलोदोतस, वास्तव में इस प्रकार कैसे, कब तक चलेगा ?

उत्तर अपेक्षित न था और न अपोलोदोतस ने दिया ही। उसने अपना टोप भूमि से उठा कर पहन लिया।

"आज यदि मैं एथेंस में होता" माइकस ने अपनी बात दुहराई। किसी ने कुछ न कहा।

"आज यदि मैं एथेंस में होता" माइकस ने फिर कहा।

माइकस को बढ़ावा अपेक्षित था। पर कोई बोला नहीं। सब

अपनी-अपनी चिंता में थे। अपोलोदोतस की माँ दूर मकदूनिया में मर चुकी थी, मेरो का भाई एपिरस में घायल पड़ा था, मिनान्दर का बेटा थ्रेस की सड़कों पर भीख माँगता था। सबको अपनी-अपनी चिन्ताएँ खा रही थीं।

"आज यदि तुम एथेंस में होते तो क्या होता, माइकस ?" प्रेटर ने पूछा। उसकी अनुपस्थिति में उसकी प्रेयसी को उसका प्रतिद्वन्द्वी ले भागा था।

"आज यदि मैं एथेंस में होता" माइकस ने अपनी बात पूरी की—"तो उस अभागे क्लेतो को इस प्रकार तोड़ देता।"

उसने अपने हाथ की लकड़ी तड़ से तोड़ दी। अपोलोदोतस ने धीरे धीरे उसके कन्धे पर अपना हाथ रखा।

इसी समय कोइनस के शिविर से लौट कर कुछ सैनिक उसी सिकता भूमि पर बैठ गए।

अपोलोदोतस ने बात बदलने के लिए एक से पूछा—कहो क्या संवाद है ?

"अच्छा नहीं" कह कर गोनेतस चुप हो रहा।

सबकी उत्सुकता बढ़ चली। सबके नेत्र उस पर आ टिके। केवल माइकस अपने हाथ की टूटी लकड़ियाँ उछालता रहा। उसका जैसे इस वार्तालाप से कोई संबन्ध न था।

"क्या बात है, गोनेतस ?" प्रेतर, मिनान्दर, मेरो, अपोलोदोतस सबने पूछा। माइकस के कान भी खड़े हो गए।

"क्या बात है ?" गोनेतस के प्रश्न ने सुनने वालों की उत्सुकता और बढ़ा दी।

गोनेतस का एक साथी कुछ कहने के लिए झुका। परन्तु उससे पूर्व गोनेतस स्वयं बोल उठा—बुरी, बहुत बुरी। दूर की यात्रा है—सुदूर प्राची की। पालिबोथ्रा जाना होगा, भारत के हृदय में,

गंगा और शोण के संगम पर, जैन्द्रमस से लड़ने। कहो जाओगे ?

सैनिक एक दूसरे को देखने लगे, चिन्तित, सशंक, त्रस्त।

माइकस ने विद्रोह का सूत्रपात किया। वह बोला—मैं नहीं जाऊँगा। पागलपन है पालिबोथ्रा जाना।

प्रेतर ने अपने कानों पर हाथ रख लिए। गोनेतस ने घूम कर पीछे ग्रीक स्कंधावर की ओर देखा।

अपोलोदोतस ने धीरे-धीरे कहा—माइकस, संयत हो। धैर्य और शान्ति से काम लो। सेनापति बिना विचारे कुछ न करेंगे।

स्वयं अपोलोदोतस को पाटलिपुत्र जाकर नन्द से लड़ने की बात पर आश्चर्य हुआ।

गोनेतस ने पूछा—और जानते हो यह जैन्द्रमस कितना प्रबल है ?

"बड़ा—सुना है।" मेरो बोला।

मेरो की बात अनसुनी कर गोनेतस ने कहा—बड़ा प्रबल है वह जैन्द्रमस। देरियस के साम्राज्य से उसका सामाज्य विपुल है। उसकी सेना संख्यातीत है। उसमें सहस्रों पोरस सरीखे सैनिक हैं। जैन्द्रमस के कोष में अनन्त धन है। और उसकी राजसभा में मन्त्र मारने वाले अनेक जादूगर हैं जो मंत्र पढ़कर बाण मारते हैं।

सैनिक आश्चर्य से भर गोनेतस की बात सुनते रहे।

गोनेतस कहता गया—वहाँ जैन्द्रमस की सेना में अनेक अद्भुत सिंह हैं, दो पूँछों वाले, जो देवियों के वाहन हैं। ये सिंह सेना की सेना खा जाते हैं और इन्हें देवियों के प्रभाव के कारण न भाले छेद सकते हैं, न बाण।

अपने वक्तव्य का प्रभाव श्रोताओं पर होता देख क्षण भर दम लेकर गोनेतस ने फिर कहा—कुछ वाहन मूषक और महिष हैं, कुछ मेष और वृषभ, कुछ उलूक और गर्दभ। ये दैवी शक्ति से मनुष्य पर आक्रमण करते हैं, उसका नाश कर डालते हैं। जब जैन्द्रमस युद्ध करता है उसके दो सेनापति, जिनमें एक का वाहन वृषभ और दूसरे का गरुड़ है, नाग और अग्नि उगलते रहते हैं। शत्रु ठहर नहीं सकता।

ग्रीक सैनिक त्रास से भर रहे थे। अपोलोदोतस धीरे-धीरे हँस रहा था। क्षत्रान्तक महापद्मनन्द और धननन्द का आतंक ग्रीक स्कंधावार पर छा रहा था।

× × ×

"सुन कर ही आया हूँ, यवनराज और जान पड़ता है यह संवाद निराधार नहीं है।" सुगठित सुन्दर युवा कुछ मुसकराता हुआ बोला।

उसका अश्व अलिकसुन्दर के वाजिराज को मानो ललकार रहा था। सिल्यूकस, नियरकस और फ़िलिप्पस भी अपने घोड़ों पर समीप ही सवार थे। युवक का वक्तव्य सुन यवनराज कुछ तीव्र हो गया।

वह बोला—यह संवाद नितान्त मिथ्या है, युवक।

"यदि ऐसा है, यवनराज, तो हम दोनों मगधराज नन्द पर आक्रमण कर उसके राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दें। वह स्वयं शूद्र और क्षत्रिय-शत्रु होने के कारण देश में घृणास्पद है। विजय के पश्चात् हमारी परस्पर की सीमा व्यास होगी।" युवक बोला।

"सो ठीक। परन्तु राज्य की सीमा निर्धारित करने का

कार्य सम्राट् का है युवक, तुम्हारा नहीं।" अधिकारपूर्वक सम्राट् बोला।

युवक कुछ हँसा, फिर बोला—वह कार्य यथार्थतः शक्ति का है, ग्रीकराज।

"तुम मेरे साथ शक्ति तोलोगे, युवक!" अलिकसुन्दर के गर्व को ठेस लग रही थी। वह कुछ तन गया।

"शक्ति तोलूँगा?" अच्छा, उसकी बात फिर होगी, यवन-राज, इस समय केवल यह जानकर संतुष्ट हो जाऊँगा कि संसार का वह विजेता जिसके चरणों पर पारस साम्राज्य लोटता है मेरा साधक्य स्वीकार करेगा?" युवक ने पट्टबन्ध से लटकती असि की म्यान अपने पाँव से कुछ उछाल दी।

अलिकसुन्दर कुछ क्रुद्ध हो उठा परन्तु संयत हो उसने पूछा—तुम कौन हो, युवक?

युवक तत्क्षण बोल उठा—मैं हूँ मगधराज का शत्रु, एक स्वच्छन्द सामरिक। परन्तु इसकी बात फिर होगी।

"तो सुनो, युवक—'संसार का वह विजेता जिसके चरणों पर पारस साम्राज्य लोटता है' एक स्वच्छन्द सामरिक का साधक्य स्वीकार न करेगा।" अलिकसुन्दर कुछ हँसा।

रोषपूर्ण युवक ने अश्व का मुख फेर लिया। फिर अपने भाले को जोर से मुट्ठी में कस सीना तान कर उसने कहा—

"तो तुम भी सुनो, यवनराज। नन्द दारयवहु नहीं है और न उसके सामन्त आम्भी हैं। पौरव उसका अन्तपाल होने की भी शक्ति नहीं रखता। मगध समुद्र है, ग्रीस उसमें डूब जाएगा"—बात पूरी होते न होते युवक ने घोड़े को एड़ लगा दी।

अलिकसुन्दर तमक उठा। उसने सिल्यूकस और फिलिप्पस को चिल्ला कर कहा—पकड़ो, उद्दंड युवक को।

फ़िलिप्पस तो पहली ही चोट में मूर्छित हो गया और सिल्यूकस के ऊपर जो युवक ने भाला मारा तो उसका टोप उसके भाले में आ अटका। विजयचिह्न भाले में अटकाए, भाले को ऊपर उठाए, टोप सूर्य की नई किरणों में चमकाता ग्रीक स्कन्धावार से क्षण भर में दूर जा युवक दृष्टिपथ से ओझल हो गया।

फ़िलिप्पस को जब चेतना हुई उसकी शय्या के पास खड़े हो मलिनमुख यवनराज ने फ़िलिप्पस और सिल्यूकस को धीरे-धीरे सावधान किया—यह युवक जैन्द्रमस का ध्वंस कर भारत का सम्राट् होगा। इससे सावधान रहना।

दोनों सेनानायक चुपचाप सिर नीचा किए सुनते रहे।

फ़िलिप्पस भारतीय प्रदेश का और सिल्यूकस हिन्दुकुश का शासक नियुक्त हो चुका था। केवल एक दिन पूर्व।

मध्याह्न में स्वेद से सना अश्वारोही जब घने वन में पर्णकुटी के द्वार पर पहुँचा, एक ओजस्वी कृष्णकाय ब्राह्मण पीत यज्ञोपवीत पहने वहाँ खड़ा था। अश्वारोही ने ग्रीक-टोप ब्राह्मण के चरणों में रख दिया। अद्भुत तेजस्वी उस चतुर गम्भीर पुरुष के पीत नेत्र चमक उठे।

६

सेना का आत्मविश्वास घट गया था। अलिकसुन्दर का उत्साहवर्धन किसी काम न आया। सेना को एकत्र कर उसने उपदेश दिया।

उसने कहा—ग्रीस के वीरो, दियानिसस और हिरैकिल्स जैसे विजेताओं से तुम्हारी विजय कहीं बढ़ कर है। पारस का साम्राज्य तुम्हारे कुछ ही आघातों से बैठ गया। सारा

एशिया तुम्हारे चरणों में लोट रहा है। अब साहस क्यों खाते हो ?

उसने दम लिया। अपने प्रभाव को श्रोताओं के मुखमंडल पर पढ़ने का वह प्रयत्न करने लगा। वहाँ भय का साम्राज्य था।

उसने फिर ललकारा—अब क्या शेष रहा। भारत की देहली पार कर चुके। हृदय पर आघात करना ग्रीक सैनिक जानता है।

सैनिक चुप थे, मृतप्राय।

अलिकसुन्दर ने फिर कहा—पालिबोथ्रा बड़ा ऋद्ध नगर है। पारसपुर, शूषा, एकबताना उसके सामने कुछ नहीं। जैन्द्रमस के कोष में अपार धन है।

किसी ने दबे स्वर में कहा—और उसकी सेना में अपार सैनिक।

यवनराज के नेत्रों ने इस शत्रु को खोजा पर वह न मिला। सैनिक पूर्ववत निर्जीव बैठे रहे।

धीरे-धीरे उनका प्रिय सेनानायक पौरव का विजेता कोइनस उठा।

उसने सम्राट् को सम्बोधन कर कहा—सम्राट्, राजा के लिए मध्यम मार्ग प्रशस्त होता है। हमने संसार की विजय की। अब हमें लौटना उचित है। हमारी सेनाएँ क्लान्त हो चुकी हैं। उनके वस्त्र-शस्त्र पुराने हो चुके। आत्मीय दूर पड़े हैं। आपकी सेना अविजित है परन्तु दैव का प्रकोप उस पर पड़े, इससे पूर्व ही लौट चलना उचित है। स्वदेश रह-रह कर पुकार रहा है।

कोइनस के वक्तव्य के समाप्त होते ही सहस्रों सैनिकों की करतलध्वनि से दिशाएँ गूँज उठीं। दैवचिन्तकों ने सम्राट् के मगधाभिमुख प्रस्थान को अशुभजनक बताया। सम्राट् की ग्रह-दशा विपरीत कही।

अलिकसुन्दर अपने शिविरों को लौट गया। तीन दिनों तक उसने अन्न-जल न छुआ। परन्तु सैनिकों की टेक के सम्मुख उसे अपनी टेक छोड़नी पड़ी। उसने लौटने की आज्ञा दे दी।

यवनसेना लौट पड़ी।

३

रावी के दोनों ओर शक्तिशाली मालवों का संघराज्य फैला था। व्यास की ऊपरी धारा के पास आयुधजीवी क्षुद्रक निवास करते थे। दोनों संघराज्यों में घनी शत्रुता थी। परन्तु विदेशी शत्रु के समक्ष उन्होंने अपना वैर भुला दिया। मिल कर उन्होंने ग्रीकों का नाश कर देने की सोची। अपनी शत्रुता को भूल जाने के लिए दस सहस्र मालव युवतियों ने क्षुद्रकों को वरा और इतनी ही संख्या में क्षुद्रक रमणियों ने मालवों का वरण किया।

परन्तु निश्चित तिथि पर दोनों संघराज्यों को मिल जाने का अलिकसुन्दर ने अवकाश न दिया। खेतों में पौधे निराते मालव किसानों पर वह टूट पड़ा और उनके अप्रस्तुत नगरों को उसने नष्ट कर डाला। ब्रह्मपुर के मनस्वी ब्राह्मणों ने जब उसका सामना किया उसने उनमें से एक-एक को मार डाला।

आगे एक छोटा-सा पुर था। उसके थोड़े से वीर नागरिकों ने दुर्गद्वार बन्द कर दिया। अलिकसुन्दर के ग्रीक उस पर जा चढ़े। परन्तु इस छोटे से दुर्ग को लेना आसान न था। एक-एक मालव स्वतन्त्रता का उपासक था, जान पर खेलने लगा।

उनके शौर्य का सिक्का तीन बार ग्रीक सेना की पीठ पर बैठा। तीन बार विदेशियों ने इस दुर्ग पर आक्रमण किया, तीन बार उन्हें मुँह की खानी पड़ी। अलिकसुन्दर क्रोध और ग्लानि से भर गया। निसैनी से दुर्गप्राचीर पर चढ़ते कितने ही ग्रीक सैनिकों

को रोषपूर्वक उसने नीचे फेंक दिया और उनके हाथ से निसैनी छीन वह स्वयं प्राचीर पर चढ़ गया।

एक-एक बाण का लक्ष्य था वह ग्रीक वीर, उस खुले प्राचीर के ऊपर। और एक आ लगा छः हत्था बाण। ताम्र-वर्म छिद गया। क्रुद्ध भारतीय बाण ने ग्रीक विजेता का रुधिर पी लिया।

अलिकसुन्दर बाण को हाथ से पकड़े नीचे भीतर की ओर कूद पड़ा। बड़ी कठिन समस्या थी। सेना बाहर थी।। दुर्गद्वार बन्द था।

प्युकेस्तास दर्प के साथ निसैनी की सहायता से उछल कर प्राचीर पर जा चढ़ा। लियोनातस और एब्रिअस ने उसका अनुसरण किया। पलक मारते तीनों प्राचीर से नीचे भीतर की ओर कूद पड़े।

अलिकसुन्दर थोड़ी दूर पर एक वृक्ष के नीचे गिरा था। अभी। अभी शत्रुओं ने उसे देखा था और वे उसकी ओर दौड़ पड़े थे। प्युकेस्तास अलिकसुन्दर के ऊपर लेट गया और उसने ईलियन की लाई पवित्र ढाल से उसकी रक्षा की। इसी समय लियोनातस सम्राट् के पार्श्व में लेट गया। सम्राट् की तो सत्वर मृत्यु से रक्षा हुई परन्तु लियोनातस शत्रु की चोटों से चल बसा।

इसी समय ग्रीक सेना ने दुर्ग का सिंहद्वार तोड़ दिया। वह उस ओर उमड़ चली जिस ओर क्रुद्ध नागरिक अलिकसुन्दर का अन्त किया चाहते थे और दुर्गपाल अपना वक्ष खोले अपनी सेना से कह रहा था—आहत शत्रु को न मारो। जो उसे मारेगा पहले मुझे मारेगा।

शत्रु मुग्ध थे उसकी इस वीरता पर। पर औदार्य का पारितोषिक सदा कृतज्ञता नहीं होता। प्युकेस्तास ने पीछे से बलपूर्वक

तान कर जो भाला मारा वह दुर्गपाल के पृष्ठ देश को विदीर्ण करता सम्मुख वक्ष में निकल आया।

इसी समय ग्रीकवाहिनी दुर्गसेना पर टूट पड़ी। उसने एक-एक को तलवार के घाट उतार दिया। बालक, स्त्री, वृद्ध कोई न बचा।

कुछ दिनों में अलिकसुन्दर का व्रण भर गया परन्तु शीघ्र बावेरु में वही उसका घातक बना।

वैराग्य

कहानी कल्पित है। ताया अन्तिओक नगर की एक विख्यात वेश्या थी। ग्रीक कथाओं के अनुसार उसका अलेग्ज़ैंडर पर बड़ा प्रभाव था। कहते हैं कि उसी की इच्छानुसार ईरान के जगत्प्रसिद्ध नगर पर्सिपोलिस को ग्रीक विजेता ने जला डाला। 'थायस' नाम का सर्वांगसुंदर उपन्यास, जिस पर अनातोल फ्रांस ने नोबुल-पुरस्कार पाया था, ताया से ही सम्बंध रखता है। ताया उसकी नायिका है परंतु उपन्यासकार अपनी इस कृति में शायद काल-दोष (anachronism) का दोषी हो गया है क्योंकि इसमें वर्णित कथा इतिहास की ताया के पाँच सौ वर्ष पश्चात् रोमक सम्राटों के राज्यकाल में खुलती है। ताया का विवाह शायद अलेग्ज़ैन्डर की मृत्यु के बाद तालेमी के पिता से हो गया था। आर्त्तकामा ईरानी राजकुमारी थी जिसका विवाह अलेग्ज़ैन्डर के सेनापति तालेमी से हुआ। तालेमी ने मिश्र के विख्यात तालेमी—(Ptolemy) राजवंश की नींव डाली। निषध पर्वत हिन्दूकुश का प्राचीन नाम है जिसे ग्रीक परोपनिसस (Paropanisus), पर-उप-निषद, कहते थे। चन्द्रगुप्त शायद जैन होकर दक्षिण श्रावण-बेलगोला की ओर चला गया था। समय—तृतीय शती ई० पू०।

१

"फिर, प्रिये, फिर ?"

"फिर विजयी ने नीति को भुला दिया, आर्यपुत्र। ताया का मादक विभ्रम अब सैनिक के औदार्य पर शासन कर रहा था। अलिकसुन्दर का उन्नत शरीर उस अन्तिओक की वारवनिता की काम-यष्टि से कहीं छोटा हो चला था। पुरुष का चित्त कितना वश्य है, देव ?"

"सही, देवि, सत्य ही—जहाँ उसका इष्ट पिंड है। अच्छा फिर ?"

"फिर ताया के विलास ने मानवता की कोख में अग्निभांड उलट दिया। बर्बरता का नग्न नृत्य होने लगा। विश्व का वह विख्यात नगर पारसपुर धाँय-धाँय जल उठा। विलास के विशाल भवन, ख्यार्ष की संचित समृद्धि—सब उस तांडव में भस्म हो चले। ज्वाल-जिह्वा अनन्त नागों की भाँति ललक-ललक राज-प्रासाद के कनक-पीत कलश-कंगूरों को चाटने लगी।"

"और विजयी ?" सम्राट् ने कुतूहलपूर्वक पूछा।

" 'और विजयी ?' विजयी अब विजयिनी का बन्दी था। दूर, नगर के मुख्य द्वार के ऊपर, प्राचीरों की विस्तृत पीठ पर भल्ल का सहारा लिए वाम कर ताया के स्कंध पर डाले वह मंत्र-मुग्ध-सा खड़ा था, कदाचित् अग्नि-ज्वालाओं के पार सुदूर पूर्व में गन्धार सीमा की ओर लौ लगाए, अथवा कौन जाने—

कदाचित् उस विलासिनी द्वारा प्रस्तुत नव-विलास की वासना जगाए।"

"तो विजयी देखता था, प्रिये ?"

"विजयी देखता था, प्रिय, निर्मम निर्निमेष नेत्रों से—वह दहन-कार्य, वह घोर अग्निकांड, वह भयानक नरयज्ञ। और सुनता था वह आर्त्त जन-कोलाहल, उस अवश्य-मरण का चीत्कार, उस संहर्त्री मृत्यु का उल्लसित हुँकार।"

सम्राट् ने ललाट का स्वेद पोंछ लिया।

"वह देखता रहा, सुनता रहा"—सेलिउक की कन्या फिर कहने लगी—"परन्तु उसके नेत्रों में ताया बसी थी, कानों में ताया का सरस नाद भरा था। उसका दृष्टि-पथ शून्य था, श्रवण-मार्ग भरा।"

"और ताया ?"

"'और ताया ?' ताया की वह विश्वविमोहक मुसकान विकृत हो गई थी। उसका विद्रूप हास्य घृणित हो उठा था। उसने पूछा—'विजयी, उन लपटों के उस पार देखते हो ?' 'देखता हूँ, ताया, उन लपटों के उस पार देखता हूँ अनंतविलास-जनयित्री मधुर-मानिनी ताया'—विजयी बोला।"

"'रहने दो, विजयी, इस समय व्यसन का वह स्वप्न,' ताया बोली—'संहार का अन्त विलाप नहीं विभूति है, ऐश्वर्य। बोलो, अलिकसुन्दर, यशस्वी फ़िलिप के एकमात्र वंशधर, तपस्वी अरस्तू के सँवारे ग्रीक, हरिकुल के स्वप्न, बोलो—उन मेघचुम्बी ज्वालाओं के पीछे क्या देखते हो ?' ताया ने उठती धूम्रराशि के मध्य लपकती लाल लपटों की ओर हाथ उठा दिया।"

"'उन मेघचुम्बी ज्वालाओं के पीछे, ताया, मैं देखता हूँ एक नए जगत के प्राचीरों का प्रसार और सुनता हूँ उस पर ग्रीक

सैनिकों के आक्रमण के आघात, फिर देखता हूँ विश्व का अंतिम छोर, एक विपुल सागर का सिकता-तट और सुनता हूँ अंबुधि से भी गंभीर ताया का अविराम स्वर'। ताया के उठे हाथ की ओर विजयी का हाथ स्वतः उठ गया।"

"मैंने धीरे से पिता से पूछा—'पिता, क्या तुम भी वही देखते हो जो ताया और विजयी देखते हैं? क्या सामने ग्रीकों की बर्बरता पर पारसिकों की मानवता नहीं हँस रही है?'"

"मेरे पिता ने धीरे-धीरे कम्पित स्वर में कहा—'हेलेन, मैं वह नहीं देखता। मैं देखता हूँ उन लपटों के पार विजयी के उस नए जगत के प्राचीरों के भीतर अपने वंश की परम्परा का स्वप्न।'"

हेलेन ने सम्राट् के वक्ष में अपना मुख छिपा लिया। उसकी पिंगल कुंचित केशराशि ने बिखर कर चन्द्रगुप्त का मुख-मंडल ढक लिया। विजित-विलज्जित-सी चन्द्रमरीचियाँ क्षुब्ध हो क्षितिज की ओट में फिसल पड़ीं।

२

जब चाणक्य ने कमरे में प्रवेश किया सम्राज्ञी उसकी प्रतीक्षा में बैठी थी। सम्राज्ञी ने एक पग बढ़ कर अभिवादन किया। आचार्य ने उसके झुके मस्तक पर कर फेरते हुए आशीर्वाद दिया—सौभाग्यवती हो, देवि। तुम्हारे चक्रवर्ती तनय का शासन सार्वभौम हो।

बाहर पक्षियों का कलरव प्रारम्भ हो गया। प्राची गगन के धुँधले गवाक्ष से उषा छिप-छिप झाँक रही थी। बाहर आचार्य का अन्तेवासी चन्द्रगुप्त का गुरु-भाई लोकक्षेम खड़ा कुछ सोच रहा था। भीतर सम्राज्ञी अभी अपने स्वर्णासन के समीप

खड़ी ही थी कि बाहर सिंहद्वार पर प्रभात के घंटे बज उठे। वैतालिक ने प्रातः का ललित विरुद गाया।

चाणक्य ने व्याघ्रचर्म वाले अपने नित्य के आसन पर बैठते हुए सम्राज्ञी को बैठने का संकेत किया।

फिर उसने पूछा—बेटी, क्या समाचार है? क्या चन्द्रगुप्त अब भी दुरूह है?

"अभी उनकी थाह नहीं मिलती, आचार्य। रह-रह कर उन्हें जैसे कोई मार्मिक वेदना होती है, वे कराह उठते हैं। फिर मुझे बोलने से रोक देते हैं। कर्कश जगत को धिक्कारते हुए अन्तर्मुख हो जाते हैं, सो जाते हैं।" सम्राज्ञी बोली।

"देखो, बेटी, चन्द्रगुप्त वीर होकर भी सदा का अबोध है। किसी के हाथों में रहकर ही वह उछलता है, कूदता है। पहले वह मेरे हाथों में था, अब तुम्हारे हाथों में है। मैंने उसे उत्तरापथ दिया, तुम दक्षिणापथ दो।"

"आचार्य, मैं भरसक प्रयास करती हूँ परन्तु न जाने क्यों अब उनकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर निर्ग्रन्थों की ओर झुकती जा रही है। मानवी पार्थिव शक्ति को वे क्षणिक, मिथ्या और हिंसाजनित कहते हैं..."

"मूर्ख!" चाणक्य सम्राज्ञी की बात काटता हुआ बोला—"निर्बोध! अभी भ्रान्ति बनी हुई है।"

"देखा, बेटी, अभी भारतीय ग्रीकों से कई बातों में पीछे हैं।" आचार्य ने फिर कहा—"भिखमंगों ने उन्हें पंगु बना रखा है।"

"ऐसा क्यों कहते हैं, आचार्य? सम्राट का लोहा तो सारा एशिया मानता है। ग्रीकों के खड्ग की धार तो वितस्ता के तट पर ही मुड़ गई थी। और क्या आपको वह क्षण स्मरण नहीं है

जब भारतीय चोट से ग्रीकों का लाड़ला फ़िलिप्पस धूल चाटने लगा था और जब सेल्यूकस-सा योद्धा अपना शिरस्त्राण खो श्रीविहीन हो गया था ?" मनस्विनी का गर्व अब पति के मान की रक्षा कर रहा था।

"सही, देवि, सही। पर मुझे उतने से अभितृप्ति न होगी। मैं चाहूँगा कि भारतीय निषध की ऊँची दीवार को लाँघ ईरान और पश्चिमी संसार को रौंदता एथेन्स की व्यायामशालाओं में यवन वीरों को ललकारे।"

"वह शक्ति आचार्य ही प्रदान कर सकते हैं।" सम्राज्ञी बोली।

"न, बेटी। अब आचार्य के शब्दों में वह जादू न रहा, न उसकी प्रतिज्ञाओं में वह दृढ़ता ही रही। वह आशा अब मृग-तृष्णा-सी जान पड़ती है। और चाणक्य मृगतृष्णाओं के पीछे नहीं दौड़ता।"

"फिर, आचार्य ?"

"फिर, आचार्य का कार्य नहीं, बेटी, तुम्हारा है। आचार्य ने तुम्हें निषध-सुमेरु पर्यंत उत्तर के प्रदेश दिए। अब तुम इसे दक्षिण सागर पर्यंत प्रदेश दो।"

"मैं दूँ, आचार्य, आपको ?"

"हाँ, हाँ, देवि, तुम दो, मुझे।"

"वह क्योंकर, आचार्य ?"

"बालक चन्द्रगुप्त के बच्चे कानों को ग्रीकों की वीरता और उनकी विजय-कथाओं से भर-भर कर। उसमें नृशंस भावों को जगा-जगा कर।"

"आचार्य, आपके बताए पथ पर नेत्र मूँदे चली जा रही हूँ। आज की रात मैंने सम्राट से पारसपुर-दहन की आँखों देखी कथा कही।"

"ठीक। अब अगली रात ईरान की उस अद्वितीय सुन्दरी राजकुमारी आर्त्तकामा और तालेमी के विवाह और मिश्र के राज्यप्रसार की कथा कहना।"

"जैसा आदेश, आचार्य। परन्तु क्या आचार्य का विश्वास है कि इन कथाओं से सम्राट् का हृदय कठोर हो उठेगा?"

"विश्वास? पूरा। धीरे-धीरे ये कथाएँ उसके कानों में प्रवेश करेंगी। फिर नित्य उनके श्रवण से जब नृशंसता और मानव-हत्या उसे प्राकृतिक जँचने लगेगी तब अभ्यास से हिंस्र भावों का उदय होगा और उनमें दक्षिण का सारा भारत डूब जाएगा। जाओ, बेटी, शक्ति भर यत्न करो।"

सम्राज्ञी के भवन से निकलते हुए आचार्य ने धीरे-धीरे कहा—चन्द्रगुप्त अब किसी के वश का नहीं रहा। चाणक्य अब तुम्हारी वह सारे भारत की एकछत्र-कामना फलवती न होगी।

३

जगत के उस विस्मयकारक मौर्य राज्यप्रासाद में चन्द्रगुप्त की सभा लगी थी। स्वर्ण के बृहदाकार रत्नजटित सिंहासन पर सम्राट् और सम्राज्ञी बैठे थे। सिंहासन के पीछे अनेक यवनियाँ चँवर झल रही थीं। स्वर्णखचित श्रीवितान के नीचे सभा के स्तंभों पर हीरकों और मुक्ताओं के पत्ते वैदूर्य और पन्ना की बेलों में रह रह कर जैसे हिल रहे थे। विशाल रत्नभांड सामने तीर्थों के जल से भरे थे। संसार के विख्यात रत्न सम्राट् और सम्राज्ञी के मुकुटों में चमक रहे थे। बाईं ओर कुछ दूर पर बैठा सेल्युकस का ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज विश्वविभूति उस चन्द्रगुप्त के ऐश्वर्य को एकटक निहार रहा था। जब कभी सम्राज्ञी पर उसके नेत्र पड़ते गर्व से उसका मस्तक उन्नत हो जाता।

धीरे-धीरे विदेश के राज्यों और विजितों से आए उपायनों को स्वीकार करते हुए सम्राट् ने प्रत्येक को उपयुक्त भेटें प्रदान कीं। फिर वह उठकर अन्तःपुर को चला।

× × ×

जैन साधु के उपदेश समाप्त होते ही चाणक्य ने प्रवेश किया। उसके श्याम शरीर पर पीत पट दमक रहा था। परन्तु उसका ललाट चिन्ता और क्रोध की रेखाओं से भर गया था। उसके होंठ फड़क रहे थे।

उसके प्रवेश करते ही सम्राट् उठ खड़ा हुआ। चरण-स्पर्श के अर्थ वह आचार्य की ओर बढ़ा। परन्तु चाणक्य ने उसे रोक दिया—

"न, चन्द्रगुप्त, चाणक्य के चरणस्पर्श का अधिकार तुम्हें नहीं। चाणक्य क्लीव के स्पर्श से अपावन हो जाएगा। और यह क्षपणक........"

सम्राट् तमक उठा। उसने चाणक्य की बात पूरी न होने दी। वह बोला—गुरुदेव, जैन आचार्य मानव-विभूति हैं।

चाणक्य ने और भी परुष हो कहा—चन्द्रगुप्त, भारत की विभूतियाँ मिट चुकीं। अब उसका वक्ष क्षपणकों की लीलाभूमि है।

फिर जैन आचार्य की ओर हाथ उठा कर उसने कहा—भारत के सम्राट् को कापुरुष बनाने वाला आचार्य उपाधिधारी क्षपणक आज साम्राज्य का बन्दी है।

यकायक उसके इस निर्देश पर स्तम्भों के पीछे से निकल कुछ सैनिक जैन आचार्य की ओर बढ़े।

अपने इस अपमान पर चन्द्रगुप्त बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसके नेत्रों से चिनगारियाँ निकलने लगीं।

एक पग आगे बढ़ वह बोला—आचार्य, सम्राट् के नाते मैं आपको राजप्रासाद से बाहर निकल जाने की आज्ञा देता हूँ।

क्रोध की ज्वाला को भीतर ही दबाते हुए चाणक्य ने अट्टहास किया।

फिर वह बोला—चन्द्रगुप्त, यह विस्तृत साम्राज्य राजन्य की भुजाओं से नहीं विप्र की मेधा से प्रादुर्भूत हुआ है—यह विशाल साम्राज्य—निषध-सुमेरु के शिखर से नर्मदा की तलहटी तक।

श्याम मुखमंडल पर श्वेत केशों की एकाध अलकें हिल रही थीं। लम्बा श्वेत श्मश्रु करस्पर्श से कुछ हिल रहा था।

अपनी अवमानना के विष के घूँट पीता हुआ चन्द्रगुप्त नतमस्तक हो वेग से कमरे से बाहर निकल गया। किसी ने उसे न रोका।

× × ×

सम्राज्ञी ने जब उसे रात्रि के समय न पाया वह उद्विग्न हो उठी। परन्तु उसके अनन्त प्रयत्न से भी चन्द्रगुप्त का पता न चला।

दो मास पश्चात् चाणक्य के चरों ने उसे बताया चन्द्रगुप्त की आकृति का एक जैन भिक्षु नर्मदा के पार उतर दक्षिण की ओर चला गया।

चाणक्य की परुष चेष्टा और भी विकृत हो गई। सम्मुख फलक पर रखे साम्राज्य के मानपत्र के उसने टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उसी क्षण वह कुटी से बाहर निकल गया और कुछ ही दिनों में वह राजगिर के महाकान्तार में जा घुसा।

अप्रियदर्शी

[असन्धिमित्रा की मृत्यु के बाद प्रियदर्शी अशोक ने वृद्धावस्था में तिष्यरक्षिता नाम की एक असाधारण सुन्दरी से विवाह किया। खंजन-से नेत्रवाले सपत्नी-पुत्र कुणाल के प्रति तिष्यरक्षिता के हृदय में प्रेमवासना जगी। परन्तु साधु-प्रकृति कुणाल पुण्यात्मा बना रहा। जब तिष्यरक्षिता की दुरभिसन्धि न फली तब उसने अशोक से कुणाल की मंत्रिपरिषत् के प्रति आज्ञा भिजवाई कि वे कुणाल के दोनों नेत्र निकाल कर भेज दें। कुणाल उस समय तक्षशिला का मौर्यशासक (Viceroy) था। समय—तीसरी शती ई० पू०।]

८–५–४१] [अपराह्ण, ३–४

समरविमुख प्रियदर्शी ने धर्मविजय की ठानी। धर्ममहामात्र साम्राज्य में धर्मप्रसार करने लगे। चुनार की पर्वतश्रेणी से प्रसूत स्तंभों पर धर्म-आचार खुद गए। इन चमकते प्रस्तर स्थाणुओं ने विजित के कोने-कोने में धर्म की ध्वनि पहुँचाई। शिलाखंडों ने जनसमूहों को अहिंसा और शील के उपदेश किए। उपदेशक विजित से बाहर अन्तों में जा पहुँचे, उनसे भी दूर अफ्रीका, यूरोप, एशिया में उमड़ पड़े। चीन, खुत्तन, स्वर्णभूमि, सिंहल बुद्ध की प्रेम-भावना से प्रेरित हो उठे। राजपथों पर फलों से लदे छाया-वृक्ष खड़े हुए, कूप खुद गए। देश-विदेश में नर और पशु के चिकित्सालय औषधवितरण करने लगे। अशोक के प्रासाद में भी एक पौधा लगा।

× × ×

यौवन ने उसे विशेष हरा कर दिया। वसन्त उसे नित्य नए साधनों से पनपाने लगा। अशोक लोकाराधन में व्यस्त रहता। उसे वैराग्य से स्नेह हुआ। संघ-परिवार राजसभा में उमड़ पड़ा। तिष्यरक्षिता की ओर उसे देखने का अवकाश न था।

कुणाल के नेत्र वास्तव में खंजन-से थे, चंचल, अस्थिर। किसी अद्भुत अस्त्र की भाँति वे सद्यःपरिणीता तिष्यरक्षिता के हृदय में सहसा प्रवेश कर चारों ओर तीव्रता से चुभने लगते। सद्यःपरिणीता विकल हो उठी। उसने एक दिन अपना प्रस्ताव कुणाल से कह डाला। धर्मभीरु कुणाल घबड़ा उठा। वह उस

घृणित प्रस्ताव से, घृणित प्रासाद से, घृणित नगर से भागा—उदीचि की ओर, तक्षशिला की शरण में जहाँ का वह शासक मनोनीत हो चुका था।

× × ×

तिष्यरक्षिता का मोहन वृद्ध सम्राट् पर चल गया। अपने ही तनय के जीवन पर दुर्बल प्रणयी ने प्रबल आघात किया—मर्मान्तक। जब उसने पत्र पर अपनी मुद्रा अंकित की तिष्यरक्षिता हँसी—व्यंग्य और शक्ति से। फिर रोई। शत्रु के हृदय में कुणाल के लिए विशिष्ट स्थान था। पिता रूप का दास था, सौन्दर्य का बन्दी।

× × ×

राज्यपरिषत् ने तक्षशिला में कुमार के सम्मुख वह मुद्रांकित शासन रख दिया। वह उसका अन्तिम शासन-पठन था। कुणाल के नेत्र एक बार चमक कर ज्योतिहीन हो गए।

× × ×

तिष्यरक्षिता ने उन नेत्रों को चूमा फिर उसने उन्हें अपने ज्योतिहीन कोटरों में रख लिया।

× × ×

प्रियदर्शी की ओर नेत्रहीन युवा खड़ा था, दूसरी ओर नेत्रहीना युवती। दोनों सौन्दर्य की मूर्ति थे। ईषत् हास्य से उनके होंठ कुछ विलग हो रहे थे। अशोक के मुँदे नेत्र रह रह कर हिल उठते और जब वे हिलते उनसे वारिधारा बह चलती।

अशोक ने धीरे-धीरे कहा—प्रियदर्शी, तू अप्रियदर्शी है।